प्रतिज्ञातो वधो मया। छद्मना च भवेत्सिद्धिः शत्रूणां च क्षयोपहान् ॥ १५ ॥ निन्दितानि च सर्वाणि कुत्सितानि पदे पदे। सोपधानि कृतान्येव पाण्डवैरकृतात्मभिः ॥ १६ ॥ अस्मिन्नर्थे पुरा गीताः श्रूयन्ते धर्मचिन्तकैः। श्लोका न्यायमवेक्षद्भिस्तत्त्वार्थास्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १७ ॥ परिश्रान्ते विदीर्णे वा भुञ्जाने वापि शत्रुभिः। प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रहर्तव्यं रिपोर्बलं ॥ १८॥ निद्रार्तमर्धरात्रे च तथा नष्टप्रणायकं। भिन्नयोधं बलं यच्च द्विधायुक्तं च यद्भवेत् ॥ १९ ॥ इत्येवं निश्चयं चक्रे सुप्तानां निशि मारणे। पाण्डूनां सहपाञ्चाले द्रौणपुत्रः प्रतापवान् ॥ २० ॥ सक्रूरां मतिमास्थाय विनिश्चित्य मुहुर्मुहुः। सुप्तौ प्राबोधयत्तौ तु मातुलं भोजमेव च ॥ २१ ॥

अर्थ—तब वे तीनों वीर दक्षिण की ओर चले, और सूर्यास्त के समय एक बड़े वन में पहुंचे ॥ १ ॥ उस घोर वन में घुम कर चारों ओर दृष्टि डाल अनेक शाखाओं वाला एक वृक्ष देखा ॥ २ ॥ वे रथों से उतरे, घोड़े खोले और यथाविधि आचमन करके सन्ध्या उपासी ॥ ३ ॥ बट के नीचे बैठे वे उसी हो चुके कौरवों पाण्डवों के विनाश का शोक करते रहे ॥ ४ ॥ थक कर चूर हो रहे थे, बाणों से क्षत विक्षत थे, नद्राने आ दबाया, तब भूतल पर पड़ गए ॥ ५ ॥ उत्तम शय्याओं पर सोने वाले महारथ कृपाचार्य और कृतवर्मा अनाथों की भांति भूमि पर सो गए ॥ ६ ॥ पर क्रोध से भरे अश्वत्थामा को निद्रा न आई और वह सांप के समान सांस लेते रहे॥ ७ ॥ उस महाबाहु ने ऊपर देखा, कि उस वट पर सहस्रों कौए रात बिता रहे हैं ॥ ८ ॥ पर जब वे कौए विश्वस्त हो कर चारों ओर सोए पड़े थे, उस समय उस

ने अचानक एक भयंकर मूर्ति उल्लू को आते देखा ॥९॥ कौओं के शत्रु उस उल्लू ने चुप चाप शाखा पर जा कर सोए हुए बहुत से कौओं को मार डाला ॥ १० ॥ कइयों के पंख, कइयों के सिर काटे और कइयों की टाँगें तोड़ डालीं ॥ ११ ॥ रात के समय उल्लू से किये इस छल वाले कर्म को देख कर, उसी ध्यान में लगे हुए अश्वत्थामा ने सोचा ॥ १२ ॥ इस पक्षी ने युद्ध के लिए मुझे अच्छा उपदेश दे दिया है, शत्रुओं के मारने का यही काल और यही रीति ठीक है ॥ १३ ॥ बलवन्त, उत्साही, लब्धलक्ष, शस्त्रधारी विजयी पाण्डवों को अब दूसरी रीति से मैं मार नहीं सकता॥१४॥ और राजा के सामने इन के वध की प्रतिज्ञा करी है, छल से ही इस की सिद्धि होगी, शत्रुओं का महान् क्षय होगा ॥ १५ ॥ पाण्डवों ने भी पद २ पर निन्दित और छल वाले कर्म किये हैं ॥ १६ ॥ धर्म के चिन्तक और न्याय के द्रष्टा तत्त्वदर्शियों ने इस विषय में तत्त्व के बोधक श्लोक कहे हैं ॥ १७ ॥ चाहे शत्रु थका हो-वा भागता हो, वा भोजन कर रहा हो, चाहे चला जाता हो, वा प्रवेश कर रहा हो, चाहे आधी रात के समय निद्रा के वशीभूत हो, चाहे उनका नायक नष्ट हो गया हो, योधे बिखरे हुए हों और चाहे दो टुकड़े हुए हों, शत्रुदल पर सर्वथा प्रहार हो सकता है ॥ १८–१९ ॥ इस प्रकार प्रतापी अश्वत्थामा ने रात के समय सोए हुए पाण्डवों और पंचालों को मारने का निश्चय किया ॥ २० ॥ इस क्रूर समझ पर भरोसा करके और बार २ निश्चय करके सोए हुए मामे और कृतवर्मा को जगाया ॥ २१ ॥

अ० २ (श्लो० १-९) कृपाचार्य और अश्वत्थामा का संवाद

मूल—कृप उवाच-श्रुतं ते वचनं सर्वं यद्यदुक्तं त्वया विभो। ममापि तु वचः किञ्चिच्छृणुष्वाद्य महाभुज ॥ १ ॥ रागात् क्रोधाद् भयाल्लोभाद्योऽर्थानीहति मानवः। अनीशश्चावमानी च स शीघ्रं भ्रश्यते श्रियः ॥ २ ॥ सोऽयं दुर्योधनेनार्थो लुब्धेनादीर्घदर्शिना। असमर्थः समारब्धो मूढत्वादविचिन्तितः ॥ ३ ॥ हितबुद्धीननादृत्य सम्मन्त्र्यासाधुभिः सह। वार्यमाणोऽकरोद्वैरं पाण्डवैर्गुणवत्तरैः ॥ ४ ॥ अनुवर्तामहे यत्तु तं वयं पापपूरुषं। अस्मानप्यनयस्तस्मात्प्राप्तोऽयं दारुणो महान्॥ ५ ॥ अनेन तु ममाद्यापि व्यसनेनोपतापिता। बुद्धिश्चिन्तयतः किञ्चित् स्वं श्रेयो नावबुध्यते ॥ ६ ॥ मुह्यता तु मनुष्येण प्रष्टव्याः सुहृदो जनाः। तत्रास्य बुद्धिर्विनयस्तत्र श्रेयश्च पश्यति ॥ ७ ॥ ते वयं धृतराष्ट्रं च गान्धारीं च समेत्य ह। उपपृच्छामहे गत्वा विदुरं च महामतिं ॥ ८ ॥ पृष्टास्तु वदेयुर्यच्छ्रेयो नः समनन्तरं। तदस्माभिः पुनः कार्यमिति मे नैष्ठिकी मतिः ॥ ९ ॥

अर्थ—कृपाचार्य बोले—हे तात ! जो २ बात तुमने कही, वह सब हमने सुनली, अब मेरी बात को भी हे महाबाहो सुनो ॥ १ ॥ जो मनुष्य काम, क्रोध, भय या लोभ से अर्थों को पाना चाहता है, और समर्थ न हो कर दूसरों का अपमान करता है, वह शीघ्र लक्ष्मी से भ्रष्ट होता है ॥ २ ॥ सो यह लोभी अदूरदर्शी दुर्योधन ने अपनी मूढता से न होसकने वाला कार्य आरम्भ किया ॥ ३ ॥ हितैषियों का अनादर कर, असत्पुरुषों से मन्त्रणा करके रोकते २ भी अपने से अधिक गुण वाले पाण्डवों से वैर किया ॥ ४ ॥ हम भी जो इस पाप में उस के साथ रहे,

इसीसे हम को भी यह दारुण फल भोगना पड़ा ॥ ५ ॥ इस व्य-
सन से लगी हुई मेरी बुद्धि अब भी बड़ी चिन्ता में पड़ी है,
अपना कुछ कल्याण नहीं समझती है ॥ ६ ॥ जब अपनी समझ
काम न करे, तो सुहृद्जनों से पूछलेना चाहिये, इस में मनुष्य की
बुद्धि का लगना विनय है और इस में वह अपना कल्याण देखता
है ॥ ७ ॥ सो हम इकट्ठे चल कर पहले यह बात धृतराष्ट्र गा-
न्धारी और महामति विदुर से पूछें ॥ ८ ॥ वे सुन कर पीछे
जो हमारे कल्याण की बात कहेंगे,वही हमारा कर्तव्य होगा, यह
मेरा पक्का निश्चय है ॥ ९ ॥

मूल—अश्वत्थामा महाराज दुःख शोक समन्वितः । क्रूरं
मनस्ततः कृत्वा तावुभौ प्रत्यभाषत ॥ १० ॥ पुरुषे पुरुषे बुद्धि-
र्याया भवति शोभनातुष्यन्ति च पृथक् सर्वे प्रज्ञया ते स्वया स्वया
॥ ११ ॥ सर्वो हि मन्यते लोक आत्मानं बुद्धिमत्तरं । सर्वस्यात्मा
बहुमतः सर्वोत्मानं प्रशंसति ॥ १२ ॥ विचित्रत्वात्तु चित्तानां मनु-
ष्याणां विशेषतः । चित्तवैक्लव्य मासाद्य सासा बुद्धिः प्रजायते
॥ १३ ॥ अन्यया यौवने मर्त्यो बुद्धया भवति मोहितः । मध्येऽ-
न्यया जरायां तु सोऽन्यां रोचयते मतिं ॥ १४ ॥ व्यसनं वा
महाघोरं समृद्धिं चापि तादृशीं । अवाप्य पुरुषो भोज कुरुते बुद्धि
वैकृतं ॥ १५ ॥ एकस्मिन्नेव पुरुषे सा सा बुद्धिस्तदा तदा । भव-
त्य कृतकर्मत्वात्सा तस्यैव न रोचते ॥ १६ ॥ उपजाता व्यसन-
जायेयमद्य मतिर्मम । युवयोस्तां प्रवक्ष्यामि मम शोकविनाशिनीं
॥ १७ ॥ धारयंश्च धनुर्दिव्यं दिव्यान्यस्त्राणि चाहवे । पितरं नि-
हतं दृष्ट्वा किं नु वक्ष्यामि संसदि ॥ १८ ॥ सोऽहमद्य यथाकामं
क्षत्रधर्म मुपास्य तं । गन्तास्मि पदवीं राज्ञः पितुश्चापि महात्मनः

॥ १९ ॥ अद्य स्वप्स्यन्ति पञ्चाला विश्वस्ता जितकाशिनः । जयं मत्वात्मनश्चैव श्रान्ता व्यायाम कर्शिताः ॥ २० ॥ तेषां निशि प्रसुप्तानां सुस्थानां शिबिरे स्वके । अवस्कन्दं करिष्यामि शिबिरस्याद्य दुष्करं ॥ २१ ॥ अथतान् सहितान् सर्वान् धृष्टद्युम्नपुरोगमान् । सूदयिष्यामि विक्रम्य कक्षं दीप्त इवानलः ॥ २२ ॥ अद्याहं सर्वपञ्चालैः कृत्वा भूमिं शरीरिणीं । प्रहृत्यैकैकशस्तेषु भविष्याम्यनृणः पितुः ॥ २३ ॥

अर्थ—हे महाराज ! यह सुन दुःख और शोक से भरे अश्वत्थामा मन को क्रूर करके उन दोनों से बोले ॥ १० ॥ हरएक पुरुष में अपनी २ अलग बुद्धि होती है, वे सब अलग २ अपनी २ बुद्धि करके संतुष्ट होते हैं ॥ ११ ॥ हरएक पुरुष अपने आप को दूसरों से बढ़ कर बुद्धि वाला समझता है, सब किसी को अपना आप बहुमत है, सब कोई अपनी प्रशंसा करता है ॥१२॥ विशेषतः मनुष्यों की चित्त वृत्तियां विचित्र होने से चित्त की घबराहट में वह २ बुद्धि उत्पन्न होती है ॥ १३ ॥ यौवन में मनुष्य किसी और ही बुद्धि से मोहित होता है, मध्यावस्था में किसी और से, और बुढ़ापे में कोई और बुद्धि अच्छी लगा करती है ॥ १४ ॥ महा घोर विपत्ति वा बहुत बड़ा ऐश्वर्य पा कर हे कृतवर्मन् ! मनुष्य की बुद्धि सदा बदल जाती है ॥ १५ ॥ एक ही पुरुष में उस २ समय वह २ बुद्धि उत्पन्न होती है, और अकृतकार्य रहने से, वह उसी को फिर पसन्द नहीं आती है ॥ १६ ॥ इस विपत्ति के कारण मेरी इस समय जो बुद्धि हुई है, वह तुम दोनों को कहता हूं, यही मेरे शोक को नाश करेगी ॥ १७ ॥ रण में मैं दिव्य धनुष और दिव्य अस्त्र धार कर भी पिता को

सामने मरता देख कर मैं सभा में क्या कहूंगा ॥ १८ ॥ सो मैं आज इच्छानुसार क्षत्रधर्म का सेवन कर पिता की और महात्मा राजा की पदवी पर चलूंगा ॥ १९ ॥ आज विजयी पंचाल अपना जय मना कर व्यायाम से दुर्बल हुए थक कर सुख से सोए होंगे ॥ २० ॥ आज अपने शिविर में सुखपूर्वक सोए हुओं के शिविर में बड़ा घोर आक्रमण करूंगा ॥ २१ ॥ आज धृष्टद्युम्न आदि सारे पञ्चालों को इकट्ठे नष्ट करूंगा, जैसे प्रचण्ड अग्नि फूस को ॥ २२ ॥ आज मैं सारे पञ्चालों को पृथिवी पर बिछा कर एक २ को मार कर पिता का अनृणी हूंगा ॥ २३ ॥

मूल-कृ०उ०-दिष्ट्या ते प्रतिकर्तव्ये मतिर्जातेयमच्युतान त्वां वारयितुं शक्तो वज्रपाणि रपि स्वयं ॥ २४ ॥ अनुयास्यावहे त्वां तु प्रभाते सहितावुभौ । अद्य रात्रौ विश्रमस्व विमुक्त कवचध्वजः ॥ २५ ॥ विश्रान्तश्च विनिद्रश्च स्वस्थचित्तश्च मानद । समेत्य समरे शत्रून् वधिष्यसि न संशयः ॥ २६ ॥ कृपेण सहितंयान्तं गुप्तं च कृतवर्मणा । को द्रौणिं युधिसंरब्धं योधयेदपि देवराट् ॥२७॥ ते वयं निशि विश्रान्ता विनिद्रा विगतज्वराः । प्रभातायां रजन्यां वै निहनिष्याम शात्रवान् ॥ २८ ॥ न वधः पूज्यते लोके सुप्तानामिह धर्मतः । तथैवापास्तशस्त्राणांविमुक्तरथवाजिनां ॥२९ ॥ अद्य स्वप्स्यन्ति पञ्चाला विमुक्त कवचा विभो । विश्वस्ता रजनीं सर्वे प्रेता इव विचेतसः ॥ ३० ॥ यस्तेषां तदवस्थानां द्रुह्येत पुरुषोऽनृजुः । व्यक्तं स नरके मज्जे दगाधे विपुलेऽप्लुवे ॥३१॥सर्वास्त्र विदुषां लोके श्रेष्ठस्त्वमसि विश्रुतः । न च ते जातु लोकेस्मिन् सुसूक्ष्ममपि किल्बिषं ॥ ३२ ॥ त्वं पुनः सूर्यसंकाशः श्वो भूत उदिते रवौ । प्रकाशे सर्वभूतानां विजेता युधि शात्रवान् ॥ ३३ ॥

असंभावितरूपं हि त्वयि कर्म विगर्हितं। शुक्ले रक्तमिवन्यस्तं भवेदिति मतिर्मम ॥ ३४ ॥ अश्वत्थामोवाच—एवमेव यथात्थ त्वं मातुलेह न संशयः। तैस्तु पूर्वमयं सेतुः शतधा विदलीकृतः ॥ ३५ ॥ प्रत्यक्षं भूमिपालानां भवतां चापि सन्निधौ। न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः ॥ ३६ ॥ दुर्योधनश्च भीमेन समेत्य गदया रणे। पश्यतां भूमिपालानामधर्मेण निपातितः ॥ ३७ ॥ एवं चा धार्मिकाः पापा पांचाला भिन्नसेतवः। तानेवं भिन्नमर्यादान् किं भवान्न विगर्हति ॥ ३८ ॥ पितृ हन्तॄनहं हत्वा पांचालान्निशि सौप्तिके। कामं कीटः पतंगो वा जन्म प्राप्य भवामि वै॥ ३९ ॥ एवमुक्त्वा महाराज द्रोणपुत्रः प्रतापवान्। एकान्ते योजयित्वाश्वान् प्रायादभिमुखः परान् ॥ ४० ॥ तमब्रूतां महात्मानौ भोजशारद्वतावुभौ। किमर्थं स्यन्दनो युक्तः किञ्च कार्यं चिकीर्षितं ॥ ४१ ॥ एकसार्थं प्रयातौ स्वस्त्वया सह नरर्षभ। समदुःख सुखौ चापि नावांशंकितु मर्हसि ॥ ४२ ॥ अश्वत्थामोवाच—न्यस्तशस्त्रो मम पिता धृष्टद्युम्नेन पातितः। तं तथैव हनिष्यामि न्यस्त धर्माणमद्य वै ॥४३॥ इत्युक्त्वा रथमास्थाय प्रायादभिमुखः परान्। तमन्वगात् कृपो राजन् कृतवर्मा च सात्वतः ॥ ४४ ॥

अर्थ—कृप बोले-भाग्य से बदला लेने में तेरी मति उत्पन्न हुई है, साक्षात् इन्द्र भी तुझे रोक नहीं सकता है ॥ २४ ॥ सवेरे हम दोनों तेरे साथ चलेंगे, आज रात कवच और ध्वजा उतार कर विश्राम कर ॥ २५ ॥ आराम ले कर नींद भर सो कर स्वस्थचित्त हो हमारे साथ चल कर शत्रुओं को अवश्य मारोगे इस में संदेह नहीं ॥ २६ ॥ भला जब तुम मेरे साथ मिल कर चढ़ाई करो, कृतवर्मा तुम्हारे रक्षक हों, और तुम क्रोध से भरे हो, तो कौन

तुम्हारे साथ युद्ध कर सकता है, चाहे इन्द्र भी हो ॥ २७॥ सो हम विश्राम ले कर सो कर रात के प्रभात होने पर शत्रुओं को मारेंगे ॥ २८ ॥ सोए हुए शस्त्र उतारे हुए रथ और घोड़ों को छोड़े हुओं का वध धर्मानुसार प्रशंसा नहीं किया जाता है॥२९॥ आज पंचाल शस्त्र उतार कर मरे हुओं की भांति विश्वस्त हो कर सोए होंगे ॥ ३० ॥ ऐसी अवस्था में जो पुरुष कुटिलता कर के उन से द्रोह करे, निःसंदेह वह विशाल नरक में डूबेगा ॥ ३१ ॥ सारे अस्त्रवेत्ताओं में तुम श्रेष्ठ विख्यात हो, इस लोक में तुम्हारा तनिक भी दोष प्रसिद्ध नहीं है ॥ ३२ ॥ तुम सूर्य तुल्य विख्यात हो, कल सूर्य के उदय होने पर सब के सामने जा कर शत्रुओं को जीतना ॥ ३३ ॥ निन्दित कर्म तुम्हारे अन्दर असंभावित है, शुक्ल वस्त्र पर लहू की भांति प्रतीत होगा, यह मेरा निश्चय है ॥३४॥ अश्वत्थामा बोले—हे मामा जी जैसे तुम कहते हो, ठीक ऐसे ही है, पर उन्हों ने ही पहले यह मर्यादा तोड़ी है ॥ ३५॥ सब राजाओं के सामने और आप के भी सामने शस्त्र छोड़े हुए मेरे पिता को धृष्टद्युम्न ने गिराया॥ ३६ ॥ भीमने रण में दुर्योधन को सब राजाओं के सामने अधर्म से गिराया ॥ ३७ ॥ इस प्रकार अधर्मी पंचालों ने मर्यादा को तोड़ा है, ऐसी मर्यादा तोड़ने वालों की आप क्यों निन्दा नहीं करते हैं ॥३८॥ पिता के मारने वालों को सोए हुओं को भी अवश्य मारूंगा, चाहे मुझे कीड़े और पतंगे का जन्म ही मिले ॥३९॥ यह कह कर हे महाराज प्रतापी द्रोणपुत्र एकान्त में घोड़े जोड़ कर शत्रुओं के अभिमुख गया ॥ ४० ॥ तब उस से कृप और कृतवर्मा बोले, किस लिए रथ तय्यार किया है, क्या करने लगे हो ॥ ४१ ॥ हे नरवर हम तेरे

साथ चलेंगे, हम दोनों तेरे सुख दुःख में साथी हैं, हमारे ऊपर कोई शंका न कर ॥ ४२ ॥ अश्वत्थामा बोले--शस्त्र छोड़ चुके हुए मेरे पिता को धृष्टद्युम्न ने मारा है, उस पापी को आज उसी दशा में मारूंगा ॥ ४३ ॥ यह कह कर रथ पर चढ़ कर वह शत्रुओं की ओर गया, हे राजन् कृप और कृतवर्मा उस के पीछे गए ॥ ४४ ॥

अ० ३ (व० ८-९) रात्रियुद्ध और धृष्टद्युम्न आदि का वध

मूल—तस्मिन् प्रयाते शिबिरं द्रोणपुत्रे महात्मनि । कृपश्च कृतवर्मा च शिबिरद्वार्यं तिष्ठतां ॥ १ ॥ अश्वत्थामा तु तौ दृष्ट्वा यत्नवन्तौ महारथौ । प्रहृष्टः शनकै राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥ अहं प्रवेक्ष्ये शिबिरं चरिष्यामि च कालवत् ॥ ३ ॥ यथा न कश्चिदपि वां जीवन्मुच्येत मानवः। तथा भवद्भ्यां कार्यं स्यादिति मे निश्चिता मतिः ॥ ४ ॥ इत्युक्त्वा प्राविशद् द्रौणिः पार्थानां शिबिरं महत् । अद्वारेणाभ्यवस्कन्द्य विहाय भयमात्मनः ॥ ५ ॥ स प्रविश्य महाबाहुरुद्देशज्ञश्च तस्य ह । धृष्टद्युम्नस्य निलयं शनकैरभ्युपागमत् ॥ ६ ॥ अथ प्रविश्य तद्वेश्म धृष्टद्युम्नस्य भारत । पाञ्चाल्यं शयने द्रौणिरपश्यत्सुप्तमन्तिकात् ॥ ७ ॥ क्षौमावदाते महति स्पर्ध्यास्तरणसंवृते । माल्यप्रवर संयुक्ते धूपैश्चूर्णैश्च वासिते ॥ ८ ॥ तं शयानं महात्मानं विस्रब्धमकुतोभयं । प्राबोधयत पादेन शयनस्थं महीपते ॥ ९ ॥ संबुध्य चरणस्पर्शादुत्थाय रण दुर्मदः । अभ्यजानाद मेयात्मा द्रोणपुत्रं महारथं ॥ १० ॥ तमुत्पतन्तं शयनादश्वत्थामा महाबलः । केशेष्वालभ्य पाणिभ्यां निष्पिपेष महीतले ॥ ११ ॥ सबलं तेन निष्पिष्टः साध्वसेन च

भारत । निद्रयाचैव पाञ्चाल्यो नाशकच्चेष्टितुं तदा ॥ १२ ॥ समा क्रम्य पदा राजन् कंठे चोरसि चोभयोः । नदन्तं विस्फुरन्तं च पशुमारममारयत्॥ १३ ॥ धृष्टद्युम्नं च हत्वा स तांश्चैवास्य पदानुगान् । अपश्यच्छयने सुप्तमुत्तमौजसमन्तिके ॥ १४ ॥ तमप्याक्रम्य पादेन कण्ठे चोरसि तेजसा । तथैव मारयामास विनर्दन्त मरिन्दमं ॥ १५ ॥ युधामन्युश्च संप्राप्तं हृदि द्रौणि मताडयत् । तमभिद्रुत्य जग्राह क्षितौ चैन मपातयत् ॥ १६ ॥ विस्फुरन्तं च पशुवत्तथैवैन ममारयत ॥ १७ ॥

अर्थ—जब महात्मा द्रौणपुत्र (पांचालों के) शिविर में पहुंचे, तो कृप और कृतवर्मा शिविर द्वार पर खड़े हो गए ॥ १ ॥ अश्वत्थामा उन दोनों को सावधानता से द्वार पर खड़े देख कर प्रसन्न हो धीरे से यह वचन बोले ॥ २ ॥ मैं शिविर में प्रवेश कर के काल के समान घूमूंगा ॥ ३ ॥ अब आप दोनों ने ऐसा यत्न करना, कि कोई भागा हुआ पुरुष आप से बच कर बाहर न निकल जाए, यह मेरी निश्चित मति है ॥ ४ ॥ यह कह कर अश्वत्थामा भय त्याग विना द्वार से प्रविष्ट हो पाण्डवों के बड़े शिविर में घुसे ॥ ५ ॥ अन्दर घुस कर धृष्टद्युम्न के डेरे का जानने वाला वह महाबाहु धीरे से धृष्टद्युम्न के डेरे पर पहुंचा ॥ ६ ॥ तब हे भारत धृष्टद्युम्न के मन्दिर में प्रवेश कर के निकट ही धृष्टद्युम्न को ऐसी शय्या पर लेटे पाया, जिस पर अलसी का बिछोना उस पर बहुमूल्य चादर बिछी थी, सुन्दर मालाएं लटक रही थीं सुगन्धित धूप और चूर्ण से वासित हो रहा था ॥ ७-८ ॥ उस शय्या पर विश्वस्त हो निर्भय सोए हुए को अश्वत्थामा ने लात मार कर जगाया ॥ ९ ॥ लात के लगने से रणदुर्मद धृष्टद्युम्न

जागा, और उठ कर महारथ द्रोणपुत्र को सामने खड़े देखा॥१०॥ शयन से उस के उठते २ ही महाबली अश्वत्थामा ने उस को बालों से पकड़ कर पृथिवी पर गिरा दिया ॥ ११ ॥ अश्वत्थामा ने उस को बलपूर्वक पीस डाला, वह वीर निद्रा से दबाया कुछ कर न सका ॥ १२ ॥ अश्वत्थामा ने उस के गले और छाती पर पैर रख कर गर्जते फुंकारते को पशु की मार मार डाला ॥१३॥ धृष्टद्युम्न और उस का साथ देने वालों को मार कर उसने निकट ही उत्तमौजा को शय्या पर सोए देखा ॥ १४ ॥ उस के भी एक पाओं गले और एक छाती पर रख कर गर्जते हुए को वैसे ही मार डाला ॥ १५ ॥ (शब्द सुन) युधामन्यु दौड़ा आया, और उस ने अश्वत्थामा की छाती पर प्रहार किया उस को भी दौड़ कर अश्वत्थामा ने पकड़ कर पृथिवी पर गिरा लिया॥१७॥ और फुंकारते को उसी तरह पशुवत् मार डाला ॥ १७ ॥

मूल—तथा स वीरो हत्वा तं ततोऽन्यान् समुपाद्रवत् । संसुप्तानेव राजेन्द्र तत्र तत्र महारथान् ॥ १८ ॥ ततो निस्त्रिंशमादाय जघानाऽन्यान् पृथक् पृथक् । भागशो विचरन्मार्गानसियुद्धविशारदः ॥ १९ ॥ तस्य लोहितरक्तस्य दीप्तखड्गस्य युध्यतः । अमानुष इवाकारो बभौ परमभीषणः ॥ २० ॥ स घोररूपो व्यचरत्कालवच्छिबिरे ततः । अपश्यद् द्रौपदी पुत्रानश्रौषीच्छ्वसोमकान् ॥ २१ ॥ तेन शब्देन वित्रस्ता धनुर्हस्ता महारथाः । धृष्टद्युम्नं हतं श्रुत्वा द्रौपदेया विशांपते ॥ २२ ॥ अवाकिरन् शरव्रातैर्भारद्वाज मभीतवत् ॥ २३ ॥ ततस्तेन निनादेन संप्रबुद्धाः प्रभद्रकाः । शिलीमुखैः शिखण्डी च द्रोणपुत्रं समार्दयन् ॥ २४ ॥ भारद्वाजः सतान् दृष्ट्वा शरवर्षाणि वर्षतः । द्रौपदेयानभिद्रुत्य स-

ङ्गेन व्यथयद्बली ॥ २५ ॥ शिखण्डिनं समासाद्य द्विधा चिच्छेद सोऽसिना । प्रभद्रक गणान् सर्वानभिदुद्राव वेगवान् ॥२६॥ द्रुपदस्य च पुत्राणां पौत्राणां सुहृदामपि । चकार कदनं घोरं दृष्ट्वा दृष्ट्वा महाबलः ॥ २७ ॥ क्रोशतां किमिदं कोयं कः शब्दः किं नु किं कृतं । एवं तेषां तथा द्रौणिरन्तकः समपद्यत ॥ २८ ॥ उत्पेतुस्तेन शब्देन योधा राजन् निचेतसः । निद्रार्तांश्च भयार्तांश्च व्यधावन्त ततस्ततः ॥ २९ ॥ विचेतसः सनिद्राश्च तमसा चावृता नराः । जघ्नुः स्वानेव तानथ कालेनैव प्रचोदिताः ॥ ३० ॥ त्यक्त्वाद्वाराणि च द्वास्थास्तथा गुल्मानि गौल्मिकाः । प्राद्रवन्त यथाशक्ति कांदिशीका विचेतसः ॥ ३१ ॥ तत्रापरे वध्यमाना मुहुर्मुहुर चेतसः । शिबिरान्निष्पतन्तिस्म क्षत्रिया भयपीडिताः॥३२॥ तांस्तु निष्पतितांस्त्रस्तान शिबिराज्जीवितैषिणः । कृतवर्मा कृपश्चैव द्वार्देशे निजघ्नतुः ॥ ३३ ॥ प्रत्यूषकाले शिबिरात प्रतिगन्तु मियेषसः ॥ ३४ ॥नृशोणितावसिक्तस्य द्रौणेरासीदसित्सरुः। पाणिना सह संश्लिष्ट एकीभूत इव प्रभो ॥ ३५ ॥ यथा प्रतिज्ञं तत्कर्म कृत्वा द्रौणायनिः प्रभो । दुर्गमां पदवीं गच्छन् पितुरासीद्गतज्वरः ॥ ३६ ॥ यथैव संसुप्तजने शिबिरे प्राविशन्निशि । तथैव हत्वा निःशब्दे निश्चक्राम नरर्षभः ॥ ३७ ॥ निष्क्रम्य शिबिरात्तस्मात्ताभ्यां संगम्य वीर्यवान् । आचख्यौ कर्म तत्सर्वं हृष्टः संहर्षयन् विभो ॥ ३८ ॥ तावथाचख्यतुस्तस्मै प्रियं प्रियकरौ तदा ॥ ३९ ॥ एवं विधाहि सा रात्रिः सोमकानां जनक्षये। प्रसुप्तानां प्रमत्तानामासीत्सुभृश दारुणा ॥ ४० ॥ असंशयं हि कालस्य पर्यायो दुरतिक्रमः । तादृशा निहता यत्र कृत्वास्माकं जनक्षयं ॥ ४१ ॥ असान्निध्याद्धि पार्थानां केशवस्य च धीमतः ।

सात्यकेश्चापि कर्मेदं द्रोणपुत्रेण साधितं ॥ ४२ ॥ एतदीदृशकं वृत्तं राजन् सुप्तजने विभो ॥ ४३ ॥

अर्थ—इस प्रकार वह वीर उन को मार कर, अनन्तर वहां २ सोए हुए ही दूसरे महारथियों के डेरों की ओर दौड़ा ॥१८॥ और तलवार के धनी ने तलवार उठा कर तलवार के मार्गों से उन को अलग २ मार गिराया ॥ १९ ॥ लहू से रंगे हुए चमकती तलवार वाले का आकार राक्षस के समान बड़ा भयावना हो रहा था ॥ २० ॥ काल के समान घोररूप धार कर विचरते हुए उस ने द्रौपदी के पुत्रों और शेष बचे योधाओं को देखा॥२१॥ उधर द्रौपदी के पुत्र भी शोर सुन कर भयभीत हुए उठे और धृष्टद्युम्न का मारा जाना सुन कर हाथ में धनुष लिये निर्भय हो अश्वत्थामा पर बाण बरसाने लगे ॥ २२—२३ ॥ उधर शोर सुन कर जागे प्रभद्रक और शिखण्डी अश्वत्थामा पर बाण बरसाने लगे ॥ २४ ॥ द्रौपदी के पुत्रों को बाणों की वर्षा करते देख बली अश्वत्थामा ने दौड़ कर उन को तलवार से काट गिराया ॥ २५ ॥ शिखण्डी को भी दो टुकड़े किया, और फिर प्रभद्रकों की ओर दौड़ा ॥ २६ ॥ उस महाबली ने द्रुपद के पुत्रों पोतों और सुहृदों का ढूंढ २ कर नाश किया ॥ २७ ॥ जो कि उठ २ कर यह कह ही रहे थे, यह क्या हुआ, कैसा शोर है, कौन आ गया, उसने क्या किया, इस प्रकार अश्वत्थामा उन सब का काल बना ॥ २८ ॥ हे राजन् ! उस शब्द से उठे सैनिक निद्रा और भय से पीड़ित हुए घबरा कर इधर उधर भागने लगे ॥ २९ ॥ घबराए हुए, निद्रा से व्याकुल और अन्धकार से आच्छादित हुए काल से प्रेरे हुए वे अपनों को ही मारने लगे ॥ ३० ॥ द्वारपाल

द्वारों को छोड़ कर और गुल्मों में रहने वाले गुल्मों को छोड़ कर यथाशक्ति इधर उधर दौड़ने लगे ॥ ३१ ॥ वहां कई क्षत्रिय मार खाते वार २ घबराए हुए भय से पीड़ित हुए शिविर से भागने लगे ॥ ३२ ॥ जीने की इच्छा से शिविर से निकलने वालों को द्वार देश पर कृतवर्मा और कृपाचार्य मारते थे॥३३॥ प्रभात के समय उस ने शिविर से निकल जाने का निश्चय किया ॥ ३४ ॥ उस समय मनुष्यों के लहू से भीगे हुए अश्वत्थामा की तलवार की मूठ हाथ से जुड़ कर एक हो रही थी ॥३५॥प्रतिज्ञानुसार अश्वत्थामा इस कर्म को करके पिता के पीछे मरने के लिये शोक से हीन हो गया ॥ ३६ ॥ जैसे वह रात को लोगों के सोते हुए ही डेरों में प्रविष्ट हुआ था, वैसे ही चुपचाप उन को मार कर निकल गया ॥ ३७ ॥ शिविर से निकल कर उन दोनों से आ मिला, और प्रसन्न हो कर उन को प्रसन्न करते हुए वह सारा काम कह सुनाया ॥ ३८ ॥ उन्हों ने भी उसे वह प्रिय सुनाया, जो उन्हों ने किया था ॥३९ ॥ इस प्रकार सोए और प्रमत्त हुए सोमकों को वह रात बड़ी दारुण आई ॥४० ॥ निःसंदेह काल की बारी को कोई नहीं टाल सकता, जब कि ऐसे वीर हमारी सेना का नाश कर के भी मारे गए ॥ ४१ ॥ अश्वत्थामा ने पाण्डव कृष्ण और सात्यकि के पास न होने के समय यह कार्य सिद्ध किया ॥ ४२ ॥ यह इस प्रकार की घटना हे राजन् लोगों के सोते हुए हुई ॥ ४३ ॥

मूल—ते हत्वा सर्वपञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सर्वशः। आगच्छन् सहितास्तत्र यत्र दुर्योधनो हतः ॥ ४४ ॥ गत्वा चैनमपश्यन्त किंचित्प्राणं जनाधिपं। ततो रथेभ्यः प्रस्कन्द्य परिवव्रुस्तवा-

त्मजं ॥ ४५ ॥ अश्वत्थामोवाच--दुर्योधन जीवसि त्वं वाक्यं श्रोत्र सुखं शृणु । सप्तपाण्डवतः शेषा धार्तराष्ट्रास्त्रयो वयं ॥ ४६ ॥ ते चैव भ्रातरः पञ्च वासुदेवोऽथ सात्यकिः । अहं च कृतवर्मा च कृपः शारद्वतस्तथा॥ ४७ ॥ द्रौपदेया हताः सर्वे धृष्टद्युम्नस्य चात्मजाः । पञ्चाला निहताः सर्वे मत्स्य शेषं च भारत ॥४८॥ कृते प्रतिकृतं पश्य हतपुत्रा हि पाण्डवाः ।. सौप्तिके शिविरं तेषां हतं सनरवाहनं ॥ ४९ ॥ मया च पाप कर्मासौ धृष्टद्युम्नो महीपते । प्रविश्य शिविरं रात्रौ पशुमारेण मारितः ॥ ५० ॥ दुर्योधनस्तु तां वाचं निशम्य मनसः प्रियां । प्रतिलभ्य पुनश्चेत इदं वचन मब्रवीत् ॥ ५१ ॥ न मेऽकरोत्तद् गांगेयो न कर्णो न च ते पिता । तत्त्वया कृपभोजाभ्यां सहितेनाद्य मे कृतं ॥ ५२ ॥ स च सेनापतिः क्षुद्रो हतः सार्धं शिखण्डिना । तेन मन्ये मघवता सममात्मान मद्यवै ॥ ५३ ॥ स्वस्ति प्राप्नुत भद्रं वः स्वर्गे नः संगमः पुनः । इत्येवमुक्त्वा तूष्णीं स कुरुराजो महामनाः ॥ ५४ ॥ प्राणानुपासृजद्वीरः सुहृदां दुःखमुत्सृजन् । अपाक्रमद्दिवं पुण्यां शरीरं क्षिति माविशत् ॥ ५५ ॥ इति श्रुत्वा स नृपतिः पुत्रस्य निधनं तदा। निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च ततश्चिन्तापरोऽभवत् ॥ ५६ ॥

अर्थ—अब वे तीनों वीर पञ्चालों और द्रौपदी के पुत्रों को मार कर मिल कर वहां गए, जहां राजा दुर्योधन पड़े थे॥४६॥ जा कर राजा को मरने के निकट देखा, वे रथों से उतर कर उस के चारों ओर बैठ गए ॥ ४५ ॥ अश्वत्थामा बोले--महाराज दुर्योधन तुम जीते हो, कानों को सुखदायक वचन सुनो, पाण्डवों के सात शेष रहे हैं और तुम्हारे हम तीनों॥४६॥उधर वे पांचों भाई, कृष्ण और सात्यकि । इधर मैं कृतवर्मा और कृपाचार्य ॥ ४७॥

द्रौपदी के और धृष्टद्युम्न के सारे पुत्र मारे गए हैं, सारे पञ्चाल और मत्स्यों के बचे राजपुत्र मार दिये हैं ॥ ४८ ॥ अदले का बदला देख लो, पाण्डवों के पुत्र मारे गए, सोते हुओं का शिविर नर और वाहनों समेत मार डाला है ॥ ४९ ॥ हे महाराज शिविर में प्रवेश कर के उस पापी धृष्टद्युम्न को मैंने पशु के समान मारा है ॥ ५० ॥ दुर्योधन मन की प्यारी इस बात को सुन कर चैतन्य हो कर बोले ॥ ५१ ॥ जो काम भीष्म, तुम्हारे पिता और कर्ण ने नहीं किया था, वह मेरा काम आज तुमने कृप और कृतवर्मा के साथ मिल कर कर दिखलाया है ॥ ५२ ॥ वह क्षुद्र सेनापति शिखण्डी समेत मारा गया, इस से मैं आज अपने को इन्द्र के समान मानता हूं ॥ ५३ ॥ आप का कल्याण हो, अब फिर हमारा समागम स्वर्ग में होगा, यह कह कर मनस्वी कुरुराज ने शान्ति के साथ प्राण छोड़े, और साथियों को अपने वियोग का दुःख दे गए, वे पुण्य द्यौ को चले गए, शरीर पृथिवी पर पड़ा रहा ॥ ५४--५५ ॥ पुत्र की मृत्यु को सुन कर धृतराष्ट्र लंबा गर्म सांस भर कर चिन्ता में डूब गए ॥ ५६ ॥

अ० ४ (वं० १०-११) पाण्डवों का शोक

मूल----तस्यां राज्यां व्यतीतायां धृष्टद्युम्नस्य सारथिः । शशंस धर्मराजाय सौप्तिके कदनं कृतं ॥ १ ॥ द्रौपदेया हता राजन् द्रुपदस्यात्मजैः सह । प्रमत्ता निशिविश्वस्ताः स्वपन्तः शिविरे स्वके ॥ २ ॥ कृतवर्मणा नृशंसेन गौतमेन कृपेण च । अश्वत्थाम्ना च पापेन हतं वः शिविरं निशि ॥ ३ ॥ तच्छ्रुत्वा वाक्य माशिवं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । पपात मह्यां दुर्धर्षः पुत्रशोक सम-

न्वितः ॥ ४ ॥ पतन्तं तमतिक्रम्य परिजग्राह सात्यकिः । भीमसेनोऽर्जुनश्चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ५ ॥ लब्धचेतास्तु कौन्तेयः शोकविह्वलया गिरा । जित्वा शत्रून् जितः पश्चात्पर्यदेवदार्तवत् ॥ ६ ॥ दुर्विदा गतिरर्थानामपि ये दिव्यचक्षुषः । जीयमाना जयन्त्यन्ये जयमाना वयं जिताः ॥ ७ ॥ हत्वा भ्रातॄन्वयस्यांश्च पितॄन् पुत्रान् सुहृद्गणान् । बन्धूनमात्यान् पौत्रांश्च जित्वा सर्वान् जिता वयं॥ ८ ॥ क्रुद्धस्य नरसिंहस्य संग्रामेष्वपलायिनः । ये व्यमुच्यन्त कर्णस्य प्रमादात्त इमे हताः ॥ ९ ॥ न हि प्रमादात्परमस्ति कश्चिद्वधो नराणामिह जीवलोके । प्रमत्तमर्था हि नरं समन्तात् त्यजन्त्यनर्थाश्च समाविशन्ति ॥ १० ॥ नहि प्रमत्तेन नरेण शक्यं विद्यातपः श्रीर्विपुलं यशो वा । तीर्त्वा समुद्रं वणिजः समृद्धा मग्नाः कुनद्यामिव हेलमानाः ॥ ११ ॥ कृष्णां तु शोचामि कथं नु साध्वी शोकार्णवं साद्य विशस्य भीता । ध्रुवं विसंज्ञा पतिता पृथिव्यां सा शोष्यते शोककृशांगयष्टिः ॥ १२ ॥ तच्छोकजं दुःखमपारयन्ती कथं भविष्यत्युचिता सुखानां । पुत्रक्षय भ्रातृवध प्रणुन्ना प्रदह्यमानेन हुताशनेन ॥ १३ ॥ इत्येवमार्तः परिदेवयन् स राजा कुरूणां नकुलं बभाषे । गच्छानयैनामिह मन्दभाग्यां स मातृपक्षामिति राजपुत्रीं ॥ १४ ॥ माद्रीसुतस्तत्परिगृह्य वाक्यं धर्मेण धर्मप्रतिमस्य राज्ञः । ययौ रथेनालयमाशु देव्याः पञ्चालराजस्य च यत्र दाराः ॥ १५ ॥ प्रस्थाप्य माद्रीसुतमाजमीढः शोकार्दितस्तैः सहितः सुहृद्भिः । रोरूयमाणः प्रययौ सुतानामायोधनं भूतगणानुकीर्णं ॥ १६ ॥

अर्थ—रात के प्रभात होने पर धृष्टद्युम्न के सारथि ने रात के समय का विनाश युधिष्ठिर को आ बतलाया ॥ १ ॥(सारथि

बोला) हे राजन् ! द्रुपद के पुत्रों सहित द्रौपदी के पुत्र मारे गए, वह रात को विश्वास पूर्वक बेपरवाह हो अपने शिविर में सो रहे थे॥ २ ॥ उसी समय क्रूर कृतवर्मा कृप और पापी अश्वत्थामा ने आ कर आप के शिविर का नाश किया ॥ ३ ॥ इस अभद्र वचन को सुन कर दुर्धर्ष राजा युधिष्ठिर पुत्र शोक से व्याकुल हो भूमि पर गिर पड़े ॥ ४ ॥ उन को गिरते देख दौड़ कर सात्यकि भीम अर्जुन और नकुल सहदेव ने पकड़ लिया ॥ ५ ॥ शत्रुओं को जीत कर भी जीता गया राजा शोक व्याकुल वाणी से विलाप करने लगा ॥ ६ ॥ कार्यों की गति को दिव्य दृष्टि वाले भी नहीं जान सकते, कई हारे हुए जय पा लेते हैं, हम जीते हुए फिर हार गए ॥ ७ ॥ भाई, मित्र, पितर, पुत्र, सुहृद्, बन्धु मन्त्री और पोतों को मार कर जीत कर भी हम फिर हार गए ॥ ८ ॥ संग्रामों में पीछे न हटने वाले जो हमारे साथी क्रुद्ध हुए नरसिंह कर्ण से बच रहे थे, वे देखो प्रमाद से मारे गये ॥ ९ ॥ देखो जगत में प्रमाद के तुल्य मनुष्यों का और कोई वध नहीं है, प्रमत्त पुरुष के बने काम बिगड़ जाते हैं और अनर्थ आ घेरते हैं ॥ १० ॥ प्रमत्त पुरुष विद्या तप यश और लक्ष्मी को नहीं पा सकता, देखो ये व्यापार में समृद्ध हो कर लौटे वाणियें समुद्र को पार कर जैसे छोटी सी नदी में बेपरवाही से डूब जाएं वैसे डूबे हैं ॥ ११ ॥ मुझे द्रौपदी का बड़ा शोक है, वह पतिव्रता कैसे आज शोक समुद्र में डूबेगी । निःसंदेह वह अचेत हो कर पृथिवी पर गिर पड़ेगी, शोक से उस का शरीर सूख जाएगा ॥ १२ ॥ सुखों में पली द्रौपदी अब इस शोकज दुःख का पार न पाती हुई भाइयों और पुत्रों के वध से

व्याकुल हुई शोक की आग में जलेगी ॥ १३ ॥ इस प्रकार आर्तविलाप करते हुए कुरुराज नकुल से बोले, जाओ, उस मन्द-भाग्या को अपनी मातृपक्ष की स्त्रियों के साथ ले आओ॥१४॥ माद्रीपुत्र धर्मराज के वाक्य को धर्ममर्यादा से स्वीकार कर के रथ पर चढ़ कर शीघ्र वहां गए, जहां द्रौपदी थी और पञ्चाल-राज की पत्नियें थीं ॥१५॥ नकुल को भेज कर शोक से पीड़ित युधिष्ठिर अपने सुहृदों सहित पुत्रों के रणस्थल को गए॥ १६॥

मूल–स दृष्ट्वा निहतान् संख्ये पुत्रान् पौत्रान् सर्वांस्तथा। महादुःख परीतात्मा बभूव जनमेजय ॥ १७ ॥ ततस्तस्मिन् क्षणे कल्पो रथेनादित्यवर्चसा । नकुलः कृष्णया सार्धमुपायात्परमार्तया ॥ १८ ॥ उपप्लव्यं गता सा तु श्रुत्वा सुमहदप्रियं । कृष्णा राजानमासाद्य शोकार्ता न्यपतद्भुवि ॥ १९ ॥ बभूव वदनं तस्याः सहसा शोक कर्शितं । फुल्लपद्म पलाशाक्ष्यास्तमोग्रस्त इवांशुमान् ॥ २० ॥ सा समाश्वासिता तेन भीमसेनेन भामिनी । रुदती पाण्डव ज्येष्ठ मिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥ प्रसुप्तानां वधं श्रुत्वा द्रौणिना पापकर्मणा । शोकस्तपति मां पार्थ हुताशन इवाश्रयं॥२२॥ तस्य पापकृतो द्रौणेर्नचेदद्य त्वया रणे । ह्रियते सानुबन्धस्य युधि विक्रम्य जीवितं ॥ २३ ॥ इहैव प्रायमासिष्ये तन्निबोधत पाण्डवाः । न चेत्फलमवाप्नोति द्रौणिः पापस्य कर्मणः ॥२४॥ द्रोणपुत्रस्य सहजो मणिः शिरसि मेश्रुतः । निहत्य संख्ये तं पापं पश्येयं मणिमाहृतं ॥ २५ ॥ राजन् शिरसि तं कृत्वा जीवेयमिति मेमतिः। इत्युक्त्वा पाण्डवं कृष्णा भीमसेन मथाब्रवीत् ॥ २६ ॥ त्रातुमर्हसि मां भीम क्षत्रधर्म मनुस्मरन् । जहि तं पापकर्माणं शम्बरं मघवानिव ॥ २७ ॥ तस्या बहुविधं दुःखं निशम्य परिदेवितं । न

चामर्षत कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ॥ २८ ॥ स काञ्चन वि-
चित्रांगमारुरोह महारथं । नकुलं सारथिं कृत्वा द्रोणपुत्रवधे धृतः
॥ २९ ॥ विस्फार्य सशरं चापं तूर्ण मश्वान चोदयत । शिविरा-
त्स्वाद् गृहीत्वा स रथस्य पदमच्युतः ॥ ३० ॥

अर्थ--हे जनमेजय रण में अपने पुत्र पोतों और मित्रों को मरा हुआ देख कर राजा महा दुःख में डूब गये ॥ १७ ॥ उसी समय वीर नकुल सूर्य तुल्य चमकते हुए रथ से असन्त पीड़ित हुई द्रौपदी के साथ आ पहुंचा ॥ १८ ॥ द्रौपदी उपप्लव्य नगर में थी, वह इस बड़े अप्रिय को सुन कर राजा के निकट आकर शोक से पीड़ित हुई भूमि पर गिर पड़ी ॥१९॥ उस समय फूले कमल दल के समान नेत्र वाली द्रौपदी का शोक से व्याकुल मुख ऐसा हो गया, जैसे राहु से ग्रसा हुआ चन्द्रमा ॥ २० ॥ भीमसेन के आश्वासन देने पर वह रोती हुई युधिष्ठिर से यों बोली ॥ २१ ॥ पापी अश्वत्थामा द्वारा सोए हुओं का मारा जाना सुन कर मुझे शोक ऐसे तपा रहा है, जैसे अग्नि अपने आधार को ॥ २२ ॥ उस पापी अश्वत्थामा को यदि युद्ध में पराक्रम दिखला कर आप नहीं मारेंगे ॥ २३ ॥ यदि अश्वत्थामा अपने पाप कर्म का फल नहीं पाता है, तो मैं यहीं खाना पीना छोड़ कर मरजाउंगी ॥ २४ ॥ द्रोणपुत्र के सिर पर मणि है, उस पापी को मार कर वह मणि ला कर मुझे दिखलाओ ॥ २५ ॥ उस मणि को हे राजन् आप के सिर पर पहना कर जिउंगी, यह मेरा निश्चय है, युधिष्ठिर को यह कह कर फिर भीमसेन से बोली ॥ २६ ॥ हे भीम क्षत्रधर्म पर दृष्टि दे कर मेरी रक्षा करने योग्य हो, उस पापी को मारो, जैसे इन्द्र ने शम्बर को मारा था ॥२७॥

उस के दुःखजनक बहु विध विलाप को सुन कर महाबली भीमसेन क्रोध से भर गया ॥ २८ ॥ वह अश्वत्थामा के मारने का निश्चय करके सुनहरी विचित्र अंगों वाले महारथ पर चढ़ा, नकुल उस का सारथि बना ॥ २९ ॥ शिविर से अश्वत्थामा के रथ का खोज पकड़ कर उसने धनुष बाण को घुमाते हुए जल्दी घोड़ों को हांका ॥ ३० ॥

अ० ५ (व० १३—) अश्वत्थामा से युद्ध

मूल—अथारोहद्धृषीकेशः केतुः सर्व धनुष्मतां । अर्जुनः सत्यकर्मा च कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ तावुपारोप्य दाशार्हः स्यन्दनं लोकपूजितं । प्रतोदेन जवोपेतान् परमश्वान चोदयत् ॥ २ ॥ ते समार्च्छन्नरव्याघ्राः क्षणेन भरतर्षभ । भीमसेनं महेष्वासं समनुद्रुत्य वेगिताः ॥ ३ ॥ ययौ भागीरथी तीरं हरिभिर्भृशवेगितैः । यत्र स्म श्रूयते द्रौणिः पुत्रहन्ता महात्मनां ॥ ४ ॥ स ददर्श महात्मान मुदकान्ते यशस्विनं । कृष्णद्वैपायनं व्यास मासीन मृषिभिः सह ॥ ५ ॥ तं चैव क्रूरकर्माणं घृताक्तं कुशचीरिणं । रजसाध्वस्त मासीनं ददर्श द्रौणि मन्तिके ॥ ६ ॥ तमभ्य धावत् कौन्तेयः प्रगृह्य सशरं धनुः । भीमसेनो महाबाहुस्तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ ७ ॥ स दृष्ट्वा भीमधन्वानंप्रगृहीतशरासनं । भ्रातरौ पृष्ठतश्चास्य जनार्दन रथेस्थितौ ॥ ८ ॥ व्यथितात्माऽभवद् द्रौणिः प्राप्तं चेद ममन्यत ॥ ९ ॥ स तद्दिव्य मदीनात्मा परमास्त्र मचिन्तयत् । जग्राह स चैषीकां द्रौणिः सव्येन पाणिना ॥ १० ॥ ततस्तस्या मिषीकायां पावकः समजायत । प्रधक्ष्यन्निव लोकांस्त्रीन् कालान्तकयमोपमः ॥ ११ ॥ इंगितेनैव दाशार्हस्तमभि-

भायमादितः । द्रौणेर्बुध्वा महाबाहुरर्जुनं प्रत्यभाषत ॥ १२ ॥अर्जुनार्जुन यदू दिव्यमस्त्रं ते हृदिवर्तते । द्रोणोपदिष्टं तस्यायं कालः संप्रति पाण्डव ॥ १३ ॥ भ्रातॄणा मात्मनश्चैव परित्राणाय भारत । विसृजैतत्त्वमप्याजावस्त्र मस्त्रनिवारणं ॥ १४ ॥ ततस्तदस्त्रं सहसः सृष्टं गांडीवधन्वना । प्रजज्वाल महार्चिष्मद् युगान्तानल सन्निभं ॥ १५ ॥ नारदः सर्व भूतात्मा भरतानां पितामहः । उभौ शमयितुं वीरौ भारद्वाज धनञ्जयौ॥ १६ ॥ दीप्तयोस्त्रयोर्मध्ये स्थितौ परमतेजसौ ॥ १७ ॥ इष्ट्वैव नरशार्दूल तावग्निसमतेजसौ । संजहार शरं दिव्यं त्वरमाणो धनञ्जयः ॥ १८ ॥

अर्थ—अब सब धनुर्धारियों में श्रेष्ठ कृष्ण सत्यकर्मा अर्जुन और कुरुराज युधिष्ठिर रथ पर चढ़े ॥ १ ॥ दोनों को लोकपूजित रथ पर चढ़ा कर कृष्ण ने वेग वाले घोड़ों को प्रतोद से हांका ॥ २ ॥ वे तीनों नरवर वेग से पीछे दौड़ते हुए झट भीम से जा मिले ॥ ३ ॥ भीम भी वेग वाले घोड़ों से गंगा तट पर गए, जहां उन महात्माओं के पुत्रों का मारने वाला अश्वत्थामा सुना गया था ॥ ४ ॥ भीमने जल तट पर ऋषियों के साथ बैठे व्यास को देखा ॥ ५ ॥ और उन के निकट क्रूरकर्मा अश्वत्थामा को देखा, जो शरीर पर घी मले, कुशा के चीर पहने धूलि लगाए बैठा था ॥ ६ ॥ उस को देख कर महाबाहु भीमसेन धनुष बाण ले कर खड़ा रह खड़ा रह ललकारता हुआ उस की ओर दौड़ा ॥ ७ ॥ उस ने जब भयंकर धनुष वाले भीम को धनुष बाण लिये और उस के पीछे कृष्ण के रथ पर आते दोनों भाइयों को देखा ॥ ८ ॥ तो अश्वत्थामा बहुत घबराया, और उस समय के उचित निश्चय किया ॥ ९ ॥ उस अदीन स्वभाव वाले

ने दिव्य अस्त्र का ध्यान कर के बाएं हाथ से इषीका उठाई॥१०॥ उस इषीका में ऐसा अग्नि प्रकट हुआ, कि मानों काल और यम बन कर सारे लोकों को दग्ध करने लगा है ॥ ११ ॥ उस के इंगित से कृष्ण उस के अभिप्राय को जान कर अर्जुन से बोले ॥ १२ ॥ अर्जुन! द्रोण का सिखलाया तुम्हारे पास जो दिव्य अस्त्र है, हे पाण्डव यह उस का समय आया है ॥ १३ ॥हे भारत भाइयों की और अपनी रक्षा के लिए तुम भी रण में इस अस्त्र के हटाने वाले उस अस्त्र को छोड़ो ॥ १४ ॥ तब अर्जुन से झट पट छोड़ा वह अस्त्र प्रलयाग्नि के समान बड़ी चिंगाड़ियों के सहित चमका ॥ १५ ॥ उसी समय सब मनुष्यों के हितैषी नारद और महर्षि व्यास, उन दोनों वीरों को शान्त करने के लिए, चमकते अस्त्रों के मध्य में जा खड़े हुए ॥ १६–१७ ॥ अग्नि समान उन दोनों परम तेजस्वियों को देखते ही अर्जुन ने शीघ्रता से उस दिव्य अस्त्र का संहार कर लिया ॥ १८ ॥

मूल—व्यास उवाच—अस्त्रमस्त्रेण तु रणे तव संशमयिष्यता। विसृष्टमर्जुनेनेदं पुनश्च प्रतिसंहृतं ॥ १९ ॥ पाण्डवास्त्वं च राष्ट्रं च सदा संरक्ष्यमेव हि। तस्मात्सं हर दिव्यं त्वमस्त्र मेतन्महाभुज ॥ २० ॥ मणिंचैव प्रयच्छाद्य यस्ते शिरसि तिष्ठति। एतदादाय ते प्राणान् प्रतिदास्यन्ति पाण्डवाः ॥ २१ ॥ द्रौणिरुवाच—पाण्डवैर्यानि रत्नानि यच्चान्यत् कौरवैर्धृतं। अवाप्तमिह तेभ्योऽयं मणिर्मम विशिष्यते ॥ २२ ॥ न च वाक्यं भगवतो न करिष्ये महामुने ॥२३ ॥ प्रदायाथ मणिं द्रौणिः पाण्डवानां महात्मनां। जगाम विमनास्तेषां सर्वेषां पश्यतां वनं ॥ २४ ॥ पाण्डवाश्चापि गोविन्दं पुरस्कृत्य हतद्विषः। द्रौपदी मभ्यधावन्त प्रायो-

पेतां मनस्विनीं ॥ २५ ॥ अवतीर्य रथेभ्यस्तु त्वरमाणा महारथाः ।
ददृशुर्द्रौपदीं कृष्णां मार्तामार्ततराः स्वयं ॥ २६ ॥ ततो राज्ञाभ्य-
नुज्ञातो भीमसेनो महाबलः । प्रददौ तं मणिं दिव्यं वचनं चेदम-
ब्रवीत् ॥२७ ॥ अयं भद्रे तव मणिः पुत्रहन्ता जितः स ते। उत्तिष्ठ
शोकमुत्सृज्य क्षात्रधर्म मनुस्मर ॥ २८ ॥ हतो दुर्योधनः पापो रा-
ज्यस्य परिपन्थकः। दुःशासनस्य रुधिरं पीतं विस्फुरतो मया॥२९॥
वैरस्य गतमानृण्यं न स्म वाच्याः विवक्षतां॥ ३० ॥ जित्वामुक्तो
द्रोणपुत्रो ब्राह्मण्याद् गौरवेण च । यशोऽस्य पातितं देवि शरीरं
त्ववशेषितं ॥ ३१ ॥ वियोजितश्च मणिना भ्रंशितश्चायुधं भुवि
॥ ३२ ॥द्रौपद्युवाच—केवलानृण्यमाप्तास्मि गुरुपुत्रो गुरुर्मम । शिर-
स्येतं मणिं राजा प्रतिबध्नातु भारत ॥ ३३ ॥ तं गृहीत्वा ततो
राजा शिरस्येवाकरोत्तदा । गुरो रुच्छिष्टमित्येव द्रौपद्या वच-
नादपि ॥ ३४ ॥ ततो दिव्यं मणिवरं शिरसा धारयन् प्रभुः ।
शुशुभे स तदा राजा स चन्द्र इव पर्वतः ॥ ३५ ॥

अर्थ—व्यास बोले—(हे अश्वत्थामन् !) अस्त्र से तेरे अस्त्र को रण में शान्त करने की इच्छा से अर्जुन ने यह अस्त्र चलाया था, (और हमारा अभिप्राय जान) फिर संहार कर लिया है ॥१९॥ मुझे पाण्डवों की तुम्हारी और देश की रक्षा सदा अभीष्ट है,इस लिए हे महाभुज तुम इस दिव्य अस्त्र का संहार करो ॥ २० ॥ और यह मणि जो तुम्हारे सिर पर है, इसे दे दो, इस को ले कर पाण्डव पलटे में तेरे प्राण तुझे देंगे ॥ २१ ॥ अश्वत्थामा बोले-- जो २ रत्न पाण्डवों को और कौरवों ने धारण किये हैं, यह मेरी मणि उन सब से बढ़ कर है ॥ २२ ॥ पर हे महामुने ! मैं आप की आज्ञा को भी नहीं टाल सकता ॥२३॥ यह कह कर अश्व-

स्थामा ने महात्मा पाण्डवों को मणि दे दी, और स्वयं खिन्न हुआ उन के सामने बन को चला गया ॥ २४ ॥ पाण्डव भी, जिन के शत्रु मारे गए हैं, कृष्ण को आगे कर खाना पीना त्याग कर बैठी द्रौपदी की ओर धाये ॥ २५ ॥ रथों से उतर कर शीघ्र वे महारथ अत्यन्त आर्त हुए आर्त हुई द्रौपदी के पास आए॥२६॥ तब राजा से आज्ञा पा कर महाबली भीमसेन ने उसे दिव्य मणि दे कर यह वचन कहा ॥ २७ ॥ यह है भद्रे तेरे लिए मणि है, यह तेरे पुत्रों का मारने वाला जीता गया, उठ, शोक को त्याग, क्षात्रधर्म का ध्यान कर (क्षत्रियों का रण में मृत्यु शोचनीय नहीं होता) ॥ २८ ॥ राज्य का विघ्नकारी पापी दुर्योधन मारा गया, और फड़कते हुए दुःशासन का रुधिर मैंने पिया ॥ २९ ॥ वैर का बदला चुका लिया, अब हम किसी के आक्षेपणीय नहीं रहे ॥ ३० ॥ द्रोण पुत्र को ब्राह्मण होने के कारण और गुरुपुत्र होने के कारण जीत कर छोड़ दिया है, उस का यश हे देवि गिरा दिया है, शरीर छोड़ दिया है ॥ ३१ ॥ मणि से इसे अलग कर दिया है, और शस्त्र भूमि पर छुड़वा दिया है ॥ ३२॥ द्रौपदी बोली—मैं अनृणा हुई, गुरुपुत्र मेरा गुरु है, हे भारत ! इस मणि को राजा अपने सिर पर पहरे ॥ ३३ ॥ तब राजा ने उस मणि को ले कर गुरु का उच्छिष्ट जान और द्रौपदी के भी वचन से सिर पर धारण किया ॥ ३४ ॥ उस दिव्य मणि को सिर पर धारण कर के राजा चन्द्र सहित पर्वत की भांति शोभा वाले हुए॥३५॥

सौप्तिकपर्व समाप्त हुआ ॥

---

११ स्त्रीपर्व ॥

अ०१ (व०९-११) कुरुस्त्रियों का शोक और युद्धभूमि को प्रस्थान

मूल—हते दुर्योधने चैव हते सैन्ये च सर्वशः । संजयो विगतप्रज्ञो धृतराष्ट्र मुपास्थित ॥ १ ॥ सं० उ०—आगम्य नानादेशेभ्यो नानाजन पदेश्वराः । पितृलोकं गता राजन् सर्वे तव सुतैः सह ॥ २ ॥ याच्यमानेन सततं तव पुत्रेण भारत । घातिता पृथिवी सर्वा वैरस्यान्तं विधित्सता ॥ ३ ॥ पुत्राणामथ पौत्राणां पितॄणां च महीपते । आनुपूर्व्येण सर्वेषां प्रेतकार्याणि कारय ॥ ४ ॥ तच्छ्रुत्वा वचनं घोरं संजयस्य महीपतिः । गतासुरिव निश्चेष्टो न्यपतत् पृथिवीतले ॥ ५ ॥ तं शयानमुपागम्य पृथिव्यां पृथिवीपतिं । विदुरः सर्व धर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥ उत्तिष्ठ राजन् किं शेषे माशुचो भरतर्षभ । एषा वै सर्व सत्त्वानां लोकेश्वर परागतिः ॥ ७ ॥ एकसार्थं प्रयातानां सर्वेषां तत्र गामिनां । यस्य कालः सयात्यग्रे तत्रका परिदेवना ॥ ८ ॥ यांश्चापि निहतान् युद्धे राजंस्त्वमनु शोचसि । न शोच्या हि महात्मानः सर्वे ते त्रिदिवं गताः ॥ ९ ॥ न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्न तपोभिर्न विद्यया । तथा स्वर्गमुपायान्ति यथा शूरास्तनूत्यजः ॥ १० ॥ सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः । सर्वे चाभिमुखाः क्षीणास्तत्रका परिदेवना ॥ ११ ॥ एवं राजंस्तवाचक्षे स्वर्ग्यं पन्थान मुत्तमं । न युद्धादधिकं किञ्चित् क्षत्रियस्येव विद्यते ॥ १२ ॥ आत्मनात्मान माश्वास्य माशुचः पुरुषर्षभ । नाद्य शोकाभिभूतस्त्वं कार्यमुत्स्रष्टु मर्हसि ॥ १३ ॥

अर्थ—जब राजा दुर्योधन मारे गए और सारी सेना का

नाश होचुका, तब संजय घबराया हुआ धृतराष्ट्र के पास आया ॥ १ ॥ संजय बोला—हे राजन् नाना देशों से राजे आकर सब आप के पुत्रों समेत मारे गये ॥ २ ॥ (पाण्डवों के) बार २ मांगने पर वैर का अन्त करना चाहते हुए आप के पुत्र ने सारे जगत का नाश कराया ॥ ३ ॥ अब आप क्रम से पुत्र पोते और पितरों का प्रेतकर्म कीजिये ॥ ४ ॥ संजय का ऐसा घोर वचन सुनते ही राजा मरे मनुष्य के समान निश्चेष्ट हो कर भूतल पर गिर पड़े ॥ ५ ॥ राजा को पृथिवी पर गिरा देख, उन के पास आ, सब धर्मों के जानने वाले विदुर यह बोले ॥ ६ ॥ उठो हे राजन् ! क्यों पृथिवी पर पड़े हो, शोक न कीजिये, हे लोक-नाथ सब प्राणियों की यही गति होती है ॥ ७ ॥ सब एक साथ हो कर यात्रा कर रहे हैं, सब ने वहीं जाना है, जिस का काल आता है, वह पहले जाता है, इस में शोक क्या करना ॥ ८ ॥ हे राजन् जिन युद्ध में मरे महात्माओं का आप शोक करते हैं, वे शोक के योग्य नहीं, वे सब स्वर्ग को गए हैं ॥ ९ ॥ दक्षिणाओं वाले यज्ञों, तपों और विद्या से उस गति को नहीं पाते हैं, जैसे शरीर त्यागने वाले शूर ॥ १० ॥ वे सब वेद के जानने वाले ब्रह्म-चर्य व्रत को पालन किये हुए शूरवीर सभी सम्मुख हो कर कटे हैं, इस में शोक का क्या काम ॥ ११ ॥ इस प्रकार हे राजन् मैं तुम्हें बतलाता हूं, कि क्षत्रिय के लिए युद्ध से बढ़ कर स्वर्ग का कोई मार्ग नहीं है ॥ १२ ॥ बुद्धि से धीरज धर कर शोक न कीजिये, शोक से दब कर आप को कार्य नहीं छोड़ देना चाहिये ।१३।

मूल—विदुरस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा तु पुरुषर्षभः । युज्यतां यानमित्युक्त्वा पुनर्वचन मब्रवीत् ॥ १४ ॥ शीघ्रमानय गान्धारीं

सर्वाश्च भरतस्त्रियः । वधूं कुन्ती मुपादाय याश्चान्यास्तत्र योषितः
॥ १५ ॥ एवमुक्त्वा स धर्मात्मा विदुरं धर्म वित्तमं । शोकविप्रहत
ज्ञानो यानमेवान्वपद्यत ॥ १६ ॥ गान्धारी पुत्र शोकार्ता भर्तुर्वचन
नोदिता । सह कुन्त्या यतो राजा सहस्त्रीभिरुपाद्रवत ॥ १७ ॥
ताः समासाद्य राजानं भृशं शोकसमन्विताः । आमन्त्र्यान्योन्य-
मीयुः स्म भृशमुच्चुक्रुशुस्ततः ॥ १८ ॥ ताः समाश्वासयत्क्षत्ता
शाभ्यश्चार्त तरः स्वयं । अश्रुकण्ठीः समारोप्य ततोऽसौ निर्ययौ
पुरात् ॥ १९ ॥ ततः प्रणादः संजज्ञे सर्वेषु कुरुवेश्मसु । आकु-
मारं पुरं सर्व मभवच्छोक कर्शितं॥ २० ॥ प्रकीर्य केशान् सुशुभान्
भूषणान्यवमुच्य च । एकवस्त्रधरा नार्यः परिपेतुर नाथवत्॥२१॥
प्रगृह्य बाहून् क्रोशन्त्यः पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄनपि । दर्शयन्तीव ता
ह स्म युगान्ते लोक संक्षयं ॥ २२ ॥ परस्परं सुसूक्ष्मेषु शोकेष्वा-
श्वासयंस्तदा । ताः शोकविह्वला राजन्नवैक्षन्त परस्परं ॥ २३ ॥
ताभिः परिवृतो राजा रुदतीभिः सहस्रशः । निर्ययौ नगराद्दीन-
स्तूर्ण मायोधनं प्रति ॥ २४ ॥

अर्थ—विदुर के वचनों को सुन कर धृतराष्ट्र ने रथ जोड़ो, कह कर फिर कहा ॥ १४ ॥ शीघ्र जा कर गान्धारी और सारी कुरुस्त्रियें, वधू कुन्ती और भी जो वहां स्त्रियें हैं, उन को ले आ ॥ १५ ॥ धर्मज्ञ विदुर को यह आज्ञा दे कर राजा शोक से दूर हुई चेतना वाला रथ पर चढ़ा ॥ १६ ॥ पति की आज्ञा पाय पुत्र शोक से पीड़ित गान्धारी कुन्ती समेत और दूसरी स्त्रियों समेत जहां राजा थे, वहां आई ॥ १७ ॥ वे राजा के निकट आ अत्यन्त शोक से युक्त हुई परस्पर पूछ कर हा हा कार करने लगीं ॥ १८ ॥ विदुरने उन को तसल्ली दी, जो मन में उन से भी

अधिक पीड़ित हो रहा था, और उन रोतियों को ले कर पुर से बाहर निकला॥ १९ ॥ तब सारे कुरु गृहों में हाहाकार मच गया, बच्चों तक सारा पुर शोक से पीड़ित हो रहा था ॥ २०॥ सुन्दर केशों को बिखेर कर, भूषण उतार कर, एक वस्त्र पहने हुई वे स्त्रियें अनाथों के समान गिरीं ॥ २१ ॥ बाहू उठा २ कर पुत्र भाई पितरों को पुकारती हुई मानों वे प्रलयकाल के विनाश को दिखला रही थीं ॥ २२ ॥ परस्पर बढ़े हुए शोकों में एक दूसरी को तसल्ली देती हुई वे शोक से व्याकुली हुई एक दूसरी की ओर देखती थीं ॥ २३ ॥ उन रोती हुई सहस्रों नारियों के साथ राजा दीन हुआ नगर से युद्धभूमि को गया ॥ २४ ॥

अ० २ (व० १९) धृतराष्ट्र का लोहे के भीम को तोड़ना

मूल—हतेषु सर्व सैन्येषु धर्मराजो युधिष्ठिरः । शुश्रुवे पितरं वृद्धं निर्यातं गज साह्वयात ॥ १ ॥ सोऽभ्ययाव पुत्रशोकार्तः पुत्रशोक परिप्लुतं। शोचमानं महाराज भ्रातृभिः सहितस्तदा॥२॥ अन्वीयमानो वीरेण दाशार्हेण महात्मना । युयुधानेन च तथा तथैव च युयुत्सुना ॥ ३ ॥ तमन्वगात् सुदुःखार्ता द्रौपदी शोक कर्शिता। सह पञ्चाल योषिद्भिर्यास्तत्रासन् समागताः ॥ ४ ॥ स गंगामनु वृन्दानि स्त्रीणां भरतसत्तम। कुररीणां मिवार्तानां क्रोशन्तीनां ददर्शह ॥ ५ ॥ क्वनु धर्मज्ञता राज्ञः क्वनु साद्याऽनृशंसता । यच्चावधीत् पितॄन् भ्रातन् गुरुपुत्रान् सखीनापि ॥ ६ ॥ घातयित्वा कथं द्रोणं भीष्मं चापि पितामहं । मनस्तेऽभून्महाबाहो हत्वा चापि जयद्रथं ॥ ७ ॥ किं नु राज्येन ते कार्यं पितॄन् भ्रातॄनपश्यतः । अभिमन्युं च दुर्धर्षं द्रौपदेयांश्च भारत ॥ ८ ॥ अतीत्य ता महाबाहुः

क्रोशन्तीः कुररीरिव । ववन्दे पितरं ज्येष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ९ ॥ ततोऽभिवाद्य पितरं क्रमेणा मित्रकर्षणाः । न्यवेदयन्त नामानि पाण्डवास्तेपि सर्वशः ॥ १० ॥ तमात्मजान्त करणं पिता पुत्र वधार्दितः । अप्रीयमाणः शोकार्तः पाण्डवं परिषस्वजे॥११॥ धर्मराजं परिष्वज्य सान्त्वयित्वा च भारत । दुष्टात्मा भीममन्वैच्छद् दिधक्षुरिव पावकः ॥ १२ ॥ तस्य संकल्पमाज्ञाय भीममशुभं हरिः । भीममाक्षिप्य पाणिभ्यां प्रददौ भीममायसं ॥१३॥ तं गृहीत्वैव पाणिभ्यां भीमसेन मयस्मयं । बभंज बलवान् राजा मन्यमानो वृकोदरं ॥ १४ ॥ भंक्त्वा विमथितोरस्कः सुस्राव रुधिरं मुखात् । ततः पपात मेदिन्यां तथैव रुधिरोक्षितः ॥ १५ ॥ स तु कोपं समुत्सृज्य गतमन्युर्महामनाः । हा हा भीमेति चुक्रोश नृपः कोपसमन्वितः ॥ १६ ॥ तं विदित्वा गतक्रोधं भीमसेनवधार्दितं । वासुदेवो वरः पुंसा मिदंवचन मब्रवीत् ॥ १७ ॥ मा शुचो धृतराष्ट्र त्वं नैष भीमस्त्वया हतः । आयसी प्रतिमा ह्येषा त्वया निष्पातिता प्रभो ॥ १८ ॥ त्वां क्रोधवशमापन्नं विदित्वा भरतर्षभ । मयापकृष्टः कौन्तेयो मृत्योर्दंष्ट्रान्तरं गतः ॥ १९ ॥ यथान्तक मनुप्राप्य जीवन् कश्चिन्न मुच्यते । एवं बाह्वन्तरं प्राप्य तव जीवेन्नकश्चन ॥ २० ॥ तस्मात् पुत्रेण या तेऽसौ प्रतिमा कारितायसी । भीमस्य सेयं कौरव्य तवैवोपहृता मया ॥२१ ॥ पुत्रशोकाभि संतप्तं धर्मादपकृतं मनः । तव राजेन्द्र तेन त्वं भीमसेनं जिघांससि ॥ २२ ॥ न त्वेतत्तेक्षमं राजन् हन्यास्त्वं यद् वृकोदरं । नहि पुत्रा महाराज जीवेयुस्ते कथञ्चन ॥ २३ ॥ तस्माद्यत्कृत मस्माभिर्मन्यमानैः क्षमं प्रति । अनुमन्यस्व तत्सर्वं माच शोके मनः कृथाः ॥ २४ ॥

अर्थ--जब सारी सेना मारी गई, तिस पीछे राजा युधिष्ठिर ने सुना, कि हमारे वृद्ध पिता हस्तिनापुर से चले आते हैं ॥ १ ॥ तब पुत्रशोक से पीड़ित युधिष्ठिर भाइयों को संग ले, पुत्रशोक से भरे धृतराष्ट्र की ओर गए ॥ २ ॥ उन के संग वीर कृष्ण सात्यकि और युयुत्सु भी चले ॥ ३ ॥ उन के पीछे वहां आई पञ्चाल नारियों के संग शोक और दुःख से पीड़ित द्रौपदी भी चली ॥ ४ ॥ राजा युधिष्ठिर ने कुररियों के समान रोती हुई स्त्रियों के झुंड देखे ॥ ५ ॥ (जो विलपती हुई कह रही थीं) कहां गई राजा की धर्मज्ञता, कहां वह अब उस की दया है, जो उसने पितर भाई गुरुपुत्रों और मित्रों को मारा है ॥ ६ ॥ (गुरु) द्रोण को, पितामह भीष्म को और (बहनोई) जयद्रथ को मरवा कर हे महाबाहो आप का मन कैसा हुआ ॥ ७ ॥ हे महाराज पितर भाई वीर अभिमन्यु और द्रौपदी के पुत्रों को न देखते हुए राज्य से क्या लोगे ॥ ८ ॥ इस प्रकार कुररियों के समान पुकारती स्त्रियों को लंघ कर धर्मराज युधिष्ठिर ने ताऊ के पाद-वन्दन किये ॥९॥ पीछे शत्रुनाशक सब पाण्डवों ने क्रम से अभिवादन करते हुए अपने २ नाम सुनाए ॥ १० ॥ पुत्रों के मरने से पीड़ित पिता ने अपने पुत्रों के नाश के हेतु युधिष्ठिर को खिन्न मन से गले लगाया ॥ ११ ॥ धर्मराज को आलिंगन कर और धीरज दे कर जलाना चाहते हुए अग्नि के समान दुष्ट अभिप्राय से भीम को ढूंढने लगे ॥ १२ ॥ भीम के प्रति उस के अशुभ संकल्प को जान कर श्रीकृष्ण ने भीम को खींच कर एक लोहे का भीम उन के आगे कर दिया ॥ १३ ॥ उस लोहे के भीम को भीम समझ कर बलवान् धृतराष्ट्र ने दोनों भुजाओं में दबा कर

तोड़ डाला ॥ १४ ॥ तोड़ने के अनन्तर छाती के पचा जाने से उन के मुंह से लहू आ गया, और उसी प्रकार रुधिर से लिथड़ा हुआ पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ १५ ॥ क्रोध को बाहर निकाल देने से क्रोध जब शान्त हुआ, तो वह मनस्वी हा भीम हा भीम कह कर रोने लगा ॥ १६ ॥ अब कृष्ण ने देखा, कि अब इस का क्रोध शान्त हो गया, और भीम के वध से अब पीड़ित भी है, तब वे यह वचन बोले ॥ १७ ॥ हे धृतराष्ट्र ! शोक मत कीजिये, यह आपने भीम नहीं मारा है, यह हे प्रभो आपने लोहे की मूर्ति तोड़ी है ॥ १८ ॥ आप को क्रोध वश पड़ा जान कर मैंने मृत्यु की दाढ़ से भीम को खींच लिया ॥ १९ ॥ जैसे यम के वश में आकर कोई जीता नहीं बचता है, इस प्रकार आप की भुजाओं के अन्दर आ कर कोई जीता नहीं रहसकता है ॥ २० ॥ इस लिए, मैंने लोहे की वह मूर्ति आप के आगे कर दी, जो आप के पुत्र ने अभ्यास के लिए बनवाई थी ॥ २१ ॥ हे राजेन्द्र आप का मन पुत्रों के शोक से संतप्त हो कर धर्म से गिर गया है, इस से तुम भीम को मारने की इच्छा रखते हो ॥ २२ ॥ किन्तु हे महाराज ! यह उचित नहीं, कि आप भीम को मारें, हे राजन् ! आप के पुत्र कभी जीते रह नहीं सकते थे ॥ २३ ॥ इस लिए शान्ति के लिए जो २ हमने किया है, उस सब को स्वीकार कीजिये, और शोक में मन न दीजिये ॥ २४ ॥

अ० ३ (व० १३—१५) शोकप्रकाशन और धैर्यदान

मूल—तत एनमुपातिष्ठन् शौचार्थं परिचारकाः । कृतशौचं पुनश्चैनं प्रोवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥ राजन्नधीता वेदास्ते शास्त्राणि

विविधानि च । श्रुतानि च पुराणानि राजधर्माश्च केवलाः ॥२॥ एवं विद्वान् महाप्राज्ञः समर्थः सन् बलाबले । आत्मापराधात् कस्मात्त्वं कुरुषे कोपमीदृशम्॥३॥उक्तवांस्त्वां तदैवाहं भीष्मद्रोणौ च भारत । विदुरः संजयश्चैव वाक्यं राजन्न तत्कृथाः ॥ ४ ॥ स वार्यमाणो नास्माकमकार्षीर्वचनं तदा । आत्मापराधादापन्नस्तत्किं भीमं जिघांससि ॥ ५ ॥ यस्तु तां स्पर्धया क्षुद्रः पाञ्चालीमानयत्सभां । स हतो भीमसेनेन वैरं प्रतिजिहीर्षता ॥ ६ ॥ एवमुक्तः स कृष्णेन सर्वं सत्यं जनाधिप । उवाच देवकीपुत्रं धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ ७ ॥ एव मेतन्महाबाहो यथावदसि माधव । पुत्रस्नेहस्तु बलवान् धैर्यान्मां समचालयत् ॥ ८ ॥ दिष्ट्या तु पुरुषव्याघ्रो बलवान् सत्यविक्रमः । त्वद्गुप्तो नागमत् कृष्ण भीमो बाह्वन्तरं मम ॥ ९ ॥ इदानीं त्वहमव्यग्रो गतमन्युर्गतज्वरः । मध्यमं पाण्डवं वीरं द्रष्टुमिच्छामि माधव ॥ १० ॥ ततः स भीमं च धनंजयं च माद्र्याश्च पुत्रौ पुरुषप्रवीरौ । पस्पर्श गात्रैः प्ररुदन् सुगात्रानाश्वास्य कल्याण मुवाच चैतान् ॥ ११ ॥

अर्थ-इस के पीछे शौच कराने के लिए धृतराष्ट्र के पास सेवक आए, शौच कर चुकने के पीछे श्रीकृष्ण उन से बोले॥१॥ हे राजन् आपने वेद शास्त्र पढ़े और पुराण और राजधर्म सुने हैं॥ २ ॥ इस प्रकार महाप्राज्ञ और बलाबल में समर्थ हो कर अपने दोष को बिन विचारे आप क्यों ऐसा कोप करते हैं॥३॥ हे राजन् मैंने, तथा भीष्म द्रोण विदुर और संजय ने उसी समय आप से हित की बात कह दी थी, वह आपने न की ॥ ४ ॥ रोकने पर भी जब आपने हमारी बात को न माना, तो अपने अपराध से आपत्ति में पड़ कर अब भीम को क्यों मारना चाहते

हो ॥५॥ जिस क्षुद्र ने स्पर्धा से द्रौपदी को भरी सभा में बुलाया, उस को भीम ने बदला लेते हुए मार डाला ॥ ६ ॥ इस प्रकार जब कृष्ण ने उसे सच कह दिया, तो राजा धृतराष्ट्र कृष्ण से बोले ॥ ७ ॥ ऐसा ही है हे महाबाहो जैसा तुम कहते हो, किन्तु पुत्रस्नेह बड़ा बलवान् है, उस ने मुझे धीरज से गिरा दिया था ॥ ८ ॥ भाग्य से सच्चे पराक्रम वाला पुरुष सिंह बलवान् भीम आप से रक्षित हुआ मेरी भुजाओं के बीच नहीं आया ॥ ९ ॥ अब मैं शान्त हूं, मेरा क्रोध और संताप जाता रहा, हे कृष्ण अब भीमसेन को देखना चाहता हूं ॥ १० ॥ तब रोकर धृतराष्ट्र ने भीम अर्जुन नकुल और सहदेव को हाथ से स्पर्श किया और असीस दी ॥ ११ ॥

मूल—धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातास्ततस्ते कुरुपाण्डवाः। अभ्ययुर्भ्रातरः सर्वे गान्धारीं सह केशवाः ॥ १२ ॥ गान्धार्युवाच—युध्यमाना हि कौरव्या कृतमानाः परस्परं। सहिता निहताश्चान्यैस्तत्रनास्त्यप्रियं मम ॥ १३ ॥ किन्तु कर्माऽकरोद्भीमो गदा युद्धे महामनाः। अधोनाभ्याः प्रहृतवांस्तन्मेकोपम वर्धयत॥१४॥ भीम उवाच—अधर्मेण जितः पूर्वं तेन चापि युधिष्ठिरः। निकृताश्च सदैव स्म ततो विषममाचरं॥ १५ ॥ गान्धार्युवाच—अपिबः शोणितं संख्ये दुःशासन शरीरजं। सद्भिर्विगर्हितं घोर मनार्यजन सेवितं ॥ १६ ॥ क्रूरं कर्माऽकृथास्तस्मात्तद युक्तं वृकोदर॥१७॥ भीम उवाच—अन्यस्यापि न पातव्यं रुधिरं किं पुनः स्वकं। यथैवात्मा तथा भ्राता विशेषो नास्ति कश्चन ॥ १८ ॥ रुधिरं न व्यतिक्राम दन्तोष्ठादम्ब माशुचः। वैवस्वतस्तु तद्वेद हस्तौ मे रुधिरोक्षितौ ॥ १९ ॥ केशपक्ष परामर्शे द्रौपद्या द्यूत कारिते।

क्रोधाद् यद् वृत्तं चाहं तच्च मे हृदि वर्तते ॥ २० ॥ क्षत्रधर्मा-
च्च्युतो राज्ञि भवेयं शाश्वतीः समाः । मातिर्मां तामनिस्तीर्य तत-
स्तत्कृतवानहं ॥ २१ ॥ गान्धार्युवाच—वृद्धस्यास्य शतं पुत्रान्निघ्नं-
स्त्वम पराजितः।कस्मान्न शेषयेः किञ्चिद् येनाल्पमपराधितं ॥२२॥
एवमुक्त्वा तु गान्धारी युधिष्ठिर मपृच्छताक्व स राजेति ॥ क्रोधा
पुत्र पौत्र वधार्दिता ॥ २३ ॥ तामभ्य गच्छद् राजेन्द्रो वेपमानः
[illegible]ञ्जलिः । युधिष्ठिरस्त्विदं तत्र मधुरं वाक्य मब्रवीत् ॥ २४ ॥
पुत्रहन्ता नृशंसोहं तव देवि युधिष्ठिरः । शापार्हः पृथिवीनाशे
हेतुभूतः शपस्व मां ॥ २५ ॥ नहि मे जीवितेनार्थो न राज्येन
धनेन वा । तादृशान् सुहृदो हत्वा मूढस्यास्य सुहृद्द्रुहः ॥ २६ ॥
तमेवं वादिनं भीतं सन्निकर्षगतं तदा । गान्धारी विगतक्रोधा
सान्त्वयामास मातृवत् ॥ २७ ॥ तया ते समनुज्ञाता मातरं वीर-
मातरं । अभ्यगच्छन्त सहिताः पृथां पृथकवक्षसः ॥ २८ ॥ चिर-
स्य दृष्ट्वा पुत्रान् सा पुत्राधिभिरभिप्लुता । बाष्प माहारयन्नीत्रं
वस्त्रेणावृत्य वै मुखं ॥ २९ ॥ ततो बाष्पं समुत्सृज्य सह पुत्रैस्तदा
पृथा । अपश्य देतान् शस्त्रौघैर्बहुधा क्षतविक्षतान् ॥ ३० ॥ सा
तानेकैकशः पुत्रान् संस्पृशन्ती पुनः पुनः । अन्वशोचत दुःखार्ता
द्रौपदीं च हतात्मजां ॥ ३१ ॥ रुदतीमथ पाञ्चालीं ददर्श पतितां
भुवि ॥ ३२ ॥द्रौपद्युवाच—आर्ये पुत्राः क्व ते सर्वे सौभद्र सहिता
गताः । न त्वां तेऽद्याभि गच्छन्ति चिरं दृष्ट्वा तपस्विनीं ॥ ३३ ॥
किं नु राज्येन वै कार्यं विहीनायाः सुतैर्मम।तां समाश्वासयामास
पृथा पृथुललोचना ॥ ३४ ॥ उत्थाप्य याज्ञसेनीं तु रुदतीं शोक
कर्शितां । अभ्यगच्छत गान्धारी मार्ता मार्ततरा स्वयं ॥ ३५ ॥
तामुवाचाथ गान्धारी सह वध्वा यशस्विनीं । मैवं पुत्रीति शोका-

तां पश्यमामापि दुःखितां ॥ ३६ ॥ माशुचो नहि शोच्यास्ते संग्रामे निधनं गताः । यथैवाहं तथैव त्वं को वा माश्वासयिष्यति ॥३७॥

अर्थ—धृतराष्ट्र से अनुज्ञा ले कर सारे भाई कृष्ण सहित गान्धारी के पास गए ॥ १२ ॥ गान्धारी बोली—अभिमानी कौरव जो युद्ध करते हुए शत्रुओं से मारे गए, इस का मुझे दुःख नहीं ॥ १३ ॥ किन्तु गदायुद्ध में जो काम मनस्वी भीमने किया है, कि नाभि से नीचे प्रहार किया, इसने मेरा क्रोध बढ़ाया है ॥ १४ ॥ भीम बोले—उस ने भी पहले युधिष्ठिर को अधर्म से जीता था और सदा हमारा अपमान किया था, इस से मैंने विषम आचरण किया ॥ १५ ॥ गान्धारी बोली—रण में तूने दुःशासन का रुधिर पिया, यह तूने ऐसा घोर कर्म किया, जिस को धर्मात्मा निन्दते हैं, जिस को अनार्य करते हैं, हे भीम यह तूने अयुक्त काम किया ॥ १६—१७ ॥ भीम बोले—रुधिर तो किसी का भी नहीं पीना चाहिये, क्या फिर अपना, और भाई अपना आप ही है, कोई भेद नहीं ॥ १८ ॥ हे मातः ! वह रुधिर मेरे होंठ के सिरे से आगे नहीं गया, अन्तर्यामी जानता है, कि केवल मेरे हाथ ही भरे थे, आप शोक न करें ॥ १९ ॥ जुआ खेलने के पीछे दुःशासन ने जो द्रौपदी के केश खींचे थे, उस समय जो मैंने क्रोध में प्रतिज्ञा की, वह मेरे हृदय में वर्त रही थी ॥ २० ॥ हे राज्ञि ! मैं उस प्रतिज्ञा को पूरा किये बिना सदा के लिए क्षात्रधर्म से गिर जाता, इस लिए वह मैंने किया ॥ २१ ॥ गान्धारी बोली—इस वृद्ध के सौ पुत्रों को मार कर तू अक्षत है, क्यों कोई एक भी न छोड़ा, जिसने कोई थोड़ा अपराध किया था ॥ २२ ॥ यह कह कर पुत्र पोतों के वध से पीड़ित गान्धारी

ने पूछा युधिष्ठिर कहां है ॥ २३ ॥ तब राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़ कांपते हुए उस के पास गए, और यह मधुर वचन बोले ॥२४॥ हे मातः ! तेरे पुत्रों का मरवाने वाला, पृथिवी के नाश का हेतु क्रूर युधिष्ठिर यह मैं हूं, निश्चय मैं शाप के योग्य हूं, मुझे शाप दीजिये ॥ २५ ॥ मुझे राज्य धन और जीवन से क्या लाभ, जिसने ऐसे मित्रों को मरवा डाला है, सुहृदों को नाश कराया है ॥ २६ ॥ यह सुन गान्धारी का क्रोध शान्त हो गया, और वह इस प्रकार कहते हुए भयभीत हो निकट खड़े युधिष्ठिर को तसल्ली देने लगी ॥ २७ ॥ उस से अनुज्ञा दिये हुए वे वीर सब मिल कर वीरमाता कुन्ती के पास आये ॥ २८ ॥ चिर पीछे पुत्रों को देख कर पुत्रों की पीड़ाओं से पीड़ित कुन्ती के प्रेमाश्रु बह निकले और उस ने मुख को वस्त्र से ढक लिया ॥ २९ ॥ आंसू पोंछ कर शस्त्र समूहों से क्षत विक्षत पुत्रों को देखा॥३०॥ एक २ करके उन की पीठ पर हाथ फेरती हुई बार २ शोक करती भई और हतपुत्रा द्रौपदी का शोक करती भई ॥ ३१ ॥ और रोती हुई द्रौपदी को अपने निकट भूमि पर गिरी हुई देखा ॥ ३२ ॥ द्रौपदी बोली—हे आर्ये ! अभिमन्यु समेत तेरे वे पोते कहां गए, चिर पीछे तुझ तपस्विनी को देख कर वह आज तेरे पास नहीं आते हैं ॥ ३३ ॥ पुत्रों से हीन हुई मुझ को राज्य से क्या काम। उस को विशालनेत्रा कुन्ती तसल्ली देती भई॥३४॥ शोक से दुर्बल हुई रोती हुई द्रौपदी को उठा कर बड़ी दुःखित हुई कुन्ती दुःखिया गान्धारी के पास ले गई ॥ ३५ ॥ कुन्ती सहित गान्धारी यशस्विनी द्रौपदी से बोली, हे पुत्रि ! इस प्रकार शोकार्त मत हो, मुझ दुःखिया को भी देख॥३६॥ शोक मत कर,

संग्राम में मृत्यु को प्राप्त हुए वे शोक के योग्य नहीं हैं, जैसे तू
है, वैसे मैं हूं, कौन दूसरा कोई हम दोनों को तसल्ली देगा॥३७॥

अ० ४ (व० १६-२५) विलाप

मूल—ततोऽभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रो महीपतिः। पाण्डु-
पुत्राश्च ते सर्वे युधिष्ठिरपुरोगमाः ॥ १ ॥ वासुदेवं पुरस्कृत्य
हतबन्धुं च पार्थिवं। कुरुस्त्रियः समासाद्य जग्मुरायोधनं प्रति
॥ २ ॥ समासाद्य कुरुक्षेत्रं ताः स्त्रियो निहतेश्वराः। अपश्यन्त
हतांस्तत्र पुत्रान् भ्रातॄन् पितॄन् पतीन् ॥ ३ ॥ महार्हेभ्योऽथ
यानेभ्यो विक्रोशन्त्योऽभिपेदिरे। अदृष्टपूर्वं पश्यन्त्यो दुःखार्ता
भरतस्त्रियः ॥ ४ ॥ श्रान्तानां चाप्यनाथानां नासीत्काचन चेतना।
पश्चालकुरुयोषाणां कृपणं तदभून्महत्॥५॥ दुर्योधनं हतं दृष्ट्वा गा-
न्धारी शोककर्शिता। सहसा न्यपतद् भूमौ छिन्नेव कदली वने
॥ ६ ॥ सा तु लब्ध्वा पुनः संज्ञां विक्रुश्य च विलप्य च। परि-
ष्वज्य च गान्धारी कृपणं पर्यदेवयत् ॥ ७ ॥ वारिणा नेत्रजे-
नोरः सिञ्चन्ती शोकतापिता। समीपस्थं हृषीकेश मिदंवचनमब्र-
वीत् ॥ ८ ॥ यामयं प्राह वार्ष्णेय प्राञ्जलिर्नृपसत्तमः। अस्मिन्
ज्ञाति समुद्धर्षे जयमम्बा ब्रवीतु मे ॥ ९ ॥ इत्युक्ते जानती सर्व
मिदं स्वव्यसनागमं। अब्रुवं पुरुषव्याघ्र यतो धर्मस्ततो जयः॥१०॥
यथा च युध्यमानस्त्वं न वै मुह्यसि पुत्रक। ध्रुवं शस्त्रजितान् लो-
कान् प्राप्स्यस्यमरवत्प्रभो ॥ ११ ॥ इत्येवं मब्रुवं पूर्वं नैवं शोचामि
वै प्रभो। धृतराष्ट्रं तु शोचामि कृपणं हतबान्धवं ॥ १२ ॥ इदं
दुःखतरं मेऽद्य यदिमा मुक्तमूर्धजाः। हतपुत्रा रणे बाला परिधा-
न्ति मे स्नुषाः ॥१३॥ एषा विराट दुहिता स्नुषा गांडीव धन्वनः।

आर्ता बाले पतिवीरं दृष्ट्वा शोचत्यनिन्दिता ॥ १४ ॥ उत्सङ्गे वक्त्र
माधाय जीवन्तमिव पृच्छति। कथं त्वां रण मध्यस्थं जघ्नुरेते महा-
रथाः ॥ १५ ॥ न राज्यलाभो विपुलः शत्रूणां च पराभवः।
प्रीतिं धास्यति पार्थानां त्वामृते पुष्करेक्षण ॥ १६ ॥ तव शस्त्र
जितांल्लोकान् धर्मेण दमेन च । क्षिप्रमन्वा गमिष्यामि तत्र मां
प्रतिपालय ॥ १७ ॥ एतावानिह संवासो विहितस्ते मया सह।
षण्मासान् सप्तमे मासि त्वं वीर निधनं गतः ॥ १८ ॥ नातिभा-
रोऽस्ति दैवस्य ध्रुवं माधव कश्चन। यदिमे निहताः शूराः क्षत्रियैः
क्षत्रियर्षभाः ॥ १९ ॥

अर्थ—तब व्यास से अनुज्ञा दिये राजा धृतराष्ट्र और युधि-
ष्ठिर आदि पाण्डव, कृष्ण को आगे कर के, और हत बन्धु धृत-
राष्ट्र को आगे करके कुरुस्त्रियें युद्ध भूमि में गईं ॥१—२॥ कुरुक्षेत्र
में जा मरे पतियों वाली उन स्त्रियों ने वहां मरे पड़े पुत्र भाई
पितर और पति देखे ॥३॥ बहुमूल्य यानों से वे रोती हुई उतरीं,
पहले कभी न देखे वैसे दृश्य को देख कर वे कुरुस्त्रियें दुःख से
पीड़ित हुईं ॥ ४ ॥ थकी हुई उन अनाथ कुरुस्त्रियों और पञ्चाल
स्त्रियों को कोई चेतना न रही, वह बड़ा ही करुणामय दृश्य हुआ
॥ ५ ॥ मरे पड़े दुर्योधन को स्पर्श कर शोक से दुर्बल हुई गान्धारी
बन में कटी हुई कदली के समान अचानक भूमि पर गिर पड़ी
॥ ६ ॥ फिर चेतना में आ कर रोती विलपती हुई उस को छाती
से लगा कर रोने लगी ॥ ७ ॥ नेत्रों से निकले नीर से छाती को
भिगोती हुई शोक से तपायी हुई वह पास खड़े कृष्ण से यह
वचन बोली ॥ ८ ॥ हे यादव ! इस राजवर ने हाथ जोड़ कर
मुझ से कहा, कि इस ज्ञाति संग्राम में माता मेरे विजय की असीः

देवें ॥ ९ ॥ ऐसा कहने पर इस आशीर्वाद से अपने ही ऊपर आने वाली आपत्ति को पूरी तरह जान कर भी मैंने यही कहा, जिधर धर्म है, उधर जय है ॥ १० ॥ हे बेटा ! युद्ध करते हुए घबराहट में न पड़ना, शस्त्र से कमाए लोकों को (स्वर्ग) को निःसंदेह पाओगे, जैसे देवताओं ने पाया है ॥ ११ ॥ जब मैंने पहले ही ऐसा कहा, तो अब मैं शोक नहीं करती हूं, किन्तु बन्धुरहित हुए दीन पति का शोक करती हूं ॥ १२ ॥ और यह एक और बढ़ कर दुःख है, कि ये मेरी स्नुषाएं जिन के पुत्र मारे गए हैं, बाल खोल कर रणभूमि में दुःखित हुई दौड़ रही हैं ॥ १३ ॥ यह राजा विराट की कन्या अर्जुन की स्नुषा पीड़ित हुई वीरपति को देख कर शोक कर रही है ॥ १४ ॥ गोद में उस के मुख को रख कर जीते हुए की भांति उस से पूछती है, रण मध्य में लड़े आप को इन महारथियों ने कैसे मारा ॥ १५ ॥ हे कमलनेत्र तुम्हारे बिना पाण्डवों को न राज्य का लाभ और न शत्रुओं का पराजय प्रसन्न करेगा ॥ १६ ॥ आपने जो लोक ब्रह्म से धर्म से और दमन से जीते हैं, वहीं मैं भी शीघ्र आप के पीछे आऊंगी, वहां मेरी प्रतीक्षा कीजिये ॥ १७ ॥ आप के साथ यहां मेरा संवास इतना ही विधाता ने नियत किया था यह छः महीने, सातवें महीने हे वीर तुम मृत्यु को प्राप्त हुए हो ॥ १८ ॥ (अन्त में गान्धारी बोली-) हे कृष्ण देव के लिए कुछ भी बड़ा भार नहीं है, जो ये इतने बड़े शूरवीर क्षत्रिय क्षत्रियों से मारे गए ॥ १९ ॥

अ० ५ (व० २६-२७) दाहसंस्कार

मूल—श्रीभगवानुवाच—उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गान्धारि मा च शोके मनः कृथाः ॥ १ ॥ मृतं वा यदि वा नष्टं योऽतीतमनुशोचति । दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ प्रपद्यते ॥ २ ॥ धृतराष्ट्रस्तु राजर्षि-

निगृह्याऽबुद्धिजं तमः । पर्यपृच्छत धर्मज्ञो धर्मराजं युधिष्ठिरं ॥ ३ ॥
अनाथानां जनानां च सनाथानां च भारत । कच्चिदेषां शरीराणि
धक्ष्यसे विधिपूर्वकं ॥ ४ ॥ एवमुक्तो महाराज कुन्तीपुत्रो युधि-
ष्ठिरः । आदिदेश सुधर्माणं धौम्यं सूतं च संजयं ॥ ५ ॥ विदुरं
च महाबुद्धिं युयुत्सुं चैव कौरवं । इन्द्रसेनमुखांश्चैव भृत्यान् सूतांश्च
सर्वशः ॥ ६ ॥ भवन्तः कारयन्त्वेषां प्रेतकार्याण्य शेषतः । यथा
चानाथवत् किञ्चिच्छरीरं न विनश्यति ॥ ७ ॥ शासनाद्धर्मरा-
जस्य क्षत्ता सूतश्च संजयः । सुधर्मा धौम्य सहित इन्द्रसेनादयस्त-
था ॥ ८ ॥ चन्दनाऽगुरुकाष्ठानि तथा कालीयकान्युत । घृतं
तैलं च गन्धांश्च क्षौमाणि वसनानि च ॥ ९ ॥ समाहृत्य महार्हाणि
दारूणां चैव संचयान् । रथांश्च मृदितांस्तत्र नाना प्रहरणानि च
॥ १० ॥ चिताः कृत्वा प्रयत्नेन यथा मुख्यान्नराधिपान् । दाह-
यामासुरव्यग्राः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ११ ॥ सामना मृतां च
नादेन स्त्रीणां च रुदितस्वनैः । कश्मलं सर्वभूतानां निशायां
समपद्यत ॥ १२ ॥

अर्थ—श्रीकृष्ण बोले—उठो उठो हे गान्धारि ! शोक में मन न लगाओ ॥१॥ मरे वा खोए गए का, जो कोई बात बीत जाने पर शोक करता है, वह दुःख से दुःख पाता है, दुहरे अनर्थ में पड़ता है ॥ २ ॥ उसी समय धर्मज्ञ राजर्षि धृतराष्ट्र अज्ञान जन्य शोक को रोक कर राजा युधिष्ठिर से बोले ॥ ३ ॥ हे भारत ! जिन के नाथ पीछे हैं, और जिन का कोई नाथ नहीं रहा, क्या उन सब के शरीरों को विधिपूर्वक दाह दोगे ॥ ४ ॥ यह सुन कर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर ने (दुर्योधन के पुरोहित सुधर्मा (और अपने पुरोहित) धौम्य, संजय, महाबुद्धि विदुर, कौरव युयुत्सु तथा इन्द्रसेन आदि भृत्यों और सूतों को आज्ञा दी, कि आप इन सब

के प्रेतकार्य यथाविधि कराओ, जिस से कि अनाथरूप कोई भी शरीर नष्ट न हो ॥ ५—७ ॥ धर्मराज की आज्ञा से विदुर, संजय, सुधर्मा, धौम्य और इन्द्रसेन आदियों ने चन्दन अगर तगर आदि काष्ठ घृत तैल गन्ध और बहु मूल्य अलसी के वस्त्र और लकड़ियों के ढेर और टूटे हुए रथ तथा शस्त्र इकट्ठे कर करके, विधिपूर्वक चिताएं बना कर, सावधान हो कर शास्त्रोक्त विधि से यथा मुख्य सभी राजाओं का दाह किया ॥ ८—११ ॥ साम और ऋचाओं की ध्वनि से और स्त्रियों के रुदन से रात के समय सब जन्तुओं को भय होने लगा ॥ १२ ॥

मूल—कारयित्वा क्रियास्तेषां कुरुराजो युधिष्ठिरः । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गंगामभिमुखोऽगमत् ॥ १३ ॥ ते समासाद्य गंगां तु शिवां पुण्यजलोचितां । भूषणान्युत्तरीयाणि वेष्टनान्यवमुच्य च ॥ १४ ॥ ततः पितॄणां भ्रातॄणां पौत्राणां स्वजनस्य च । पुत्राणामार्यकाणां च पतीनां च कुरुस्त्रियः॥ १५ ॥ उदकं चक्रिरे सर्वा रुदत्योभृश दुःखिताः ॥ १६ ॥ ततः कुन्ती महाराज सहसा शोक कर्शिता । रुदती मन्दया वाचा पुत्रान् वचन मब्रवीत्॥१७॥ यः स वीरो महेष्वासः रथयूथपयूथपः । अर्जुनेन जितः संख्ये वीरलक्षण लक्षितः ॥ १८ ॥ यं सूतपुत्रं मन्यध्वं राधेय मिति पाण्डवाः । यो व्यराजच्चमू मध्ये दिवाकर इव प्रभुः ॥ १९ ॥ योऽनुपीत मनः शूरः प्राणैरपि सदाभुवि । कुरुध्वमुदकं तस्य भ्रातुरक्लिष्टकर्मणः ॥ २० ॥ स हि वः पूर्वजा भ्राता भास्करान्मय्य जायत ॥ २१ ॥ श्रुत्वा तु पाण्डवाः सर्वे मातुर्वचन मप्रियं । कर्ण मेवानु शोचन्तो भूयः क्लान्ततरा भवन् ॥ २२ ॥ युधिष्ठिर उवाच—अहो भवत्या मन्त्रस्य गूहनेन वयं हताः । कर्णमेवानु शोचामि दह्याम्यग्ना विवाहितः॥ २४ ॥ व्यरुदच्छनकै राजश्चका-

रास्योदकं प्रभुः । पापेनासौ मया श्रेष्ठो भ्राता ज्ञातिर्निपातितः ॥ २४ ॥ इत्युक्त्वा स तु गंगाया उत्ततारा कुलेन्द्रियः । भ्रातृभिः सहितः सर्वैर्गंगातीर मुपेयिवान् ॥ २५ ॥

अर्थ—कुरुराज युधिष्ठिर उन सब का दाह करवा कर धृत-राष्ट्र को आगे कर के गंगा को चले ॥ १३ ॥ पुण्य जल से भरी सुहावनी गंगा पर पहुंच कर उन्होंने भूषण कपड़े और पग-ड़ियां उतारीं ॥ १४ ॥ और पितर, भाई, पोते, मित्र, पुत्र और नानों को जलाञ्जलि देने लगे, कुलस्त्रियें रोती हुईं दुःखित हुईं अपने पतियों को जलाञ्जलि देने लगीं ॥ १५—१६ ॥ उस समय हे महाराज कुन्ती शोक में डूबी रोती हुई धीरे से पुत्रों से बोली ॥ १७ ॥ हे वीरो, वह वीर जो महाधनुर्धारी रथ सेनाओं का सेनापति था, जो सारे वीर लक्षणों से सम्पन्न था, जिस को तुम सूतपुत्र और राधा का पुत्र मानते हो, जो सेनाओं के मध्य में सूर्य के समान चमकता था ॥ १९ ॥ जो सदा प्राणों से भी बढ़ कर यश को प्यार करता था, उस उत्तम कर्मों वाले अपने भाई को भी जलाञ्जलि दो ॥ २० ॥ वह तुम्हारा बड़ा भाई भा-स्कर से मेरा पुत्र था ॥ २१ ॥ माता के इस अप्रिय वचन को सुन कर सारे पाण्डव कर्ण का शोक करते हुए अधिक दुःखी हुए ॥ २२ ॥ युधिष्ठिर बोले—अहो आप के मन्त्र गुप्त रखने से हम मारे गए, मैं कर्ण का ही शोक करता हूं, और अग्नि में डाले के समान जल रहा हूं ॥ २३ ॥ मन्द २ रोते हुए राजा ने उस को जलाञ्जलि दी । और 'मैं पापी ने अपना ज्ञाति भाई मार डाला,' यह कह कर व्याकुल मन हुआ वह सारे भाइयों सहित गंगा से बाहर निकल कर तीर पर आ बैठा ॥ २५ ॥

स्त्रीपर्व समाप्त हुआ ॥

शान्ति पर्व ॥

अ० १ (व० १-४) युधिष्ठिरार्जुनादि का संवाद

मूल—तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन् पाण्डुनन्दनाः । शौचं निर्वर्तयिष्यन्तो मास मात्रं बहिः पुरात् ॥ १ ॥ युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुल चेतनः । इष्ट्वार्जुन मुवाचेदं वचनं शोक कर्षितः ॥ २ ॥ धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषं । धिगस्त्वमर्षं येनेमा मापदं गमिता वयं ॥ ३ ॥ साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः । अहिंसा सत्य वचनं नित्यानि वन चारिणां ॥ ४ ॥ वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः । इमा मवस्था मापन्ना राज्यलेश बुभुक्षया ॥ ५ ॥ दुर्योधन कृते ह्येतत् कुलं नो विनिपातितं । अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यतां ॥ ६ ॥ हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः। हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्यसौ ॥ ७ ॥ धनञ्जय कृतं पापं कल्याणेनोप हन्यते । ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसापि वा ॥ ८ ॥ त्यागवांश्च पुनः पापं नालं कर्तु मिति श्रुतिः॥९॥ स धनञ्जय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञान समन्वितः । वन मामन्त्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परंतप ॥ १० ॥ प्रशाधि त्व मिमामुर्वीं क्षेमां निहत कण्टकां । न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुसत्तम ॥ ११ ॥

अर्थ--वहां महात्मा पाण्डु पुत्रों ने शौच के निमित्त महीना भर पुर से बाहर निवास किया * ॥ १ ॥ (वहां मरे बान्धवों

* महीना भर आशौच शूद्रों को होता है,पाण्डव शूद्र तो थे ही नहीं, कि महीना भर आशौच होता, यह क्षत्रिय हैं, क्षत्रियों को केवल

का स्मरण कर के) धर्मात्मा युधिष्ठिर का मन शोक से बड़ा व्याकुल हुआ, और शोक से अत्यन्त पीड़ित हो कर वह अर्जुन से यह वचन बोले ॥ २ ॥ धिक्कार है क्षात्र आचार को, धिक्कार है बल पौरुष, और धिक्कार है अमर्ष को, जिस ने हमें इस अवस्था में पहुंचाया है ॥ ३ ॥ क्षमा, दम, शौच, वैराग्य, ईर्षा का न होना, किसी को तंग न करना और सत्य बोलना यह भले हैं, जो वनचारियों (मुनियों) के प्रधान कर्म हैं ॥ ४ ॥ हम तो लोभ और मोह के वश हुए राज्य लेश की भूख से दम्भ और मान का सहारा ले कर इस अवस्था को पहुंचे हैं ॥५॥ दुर्योधन के कारण हमने अपना कुल गिरा दिया, अवध्यों का वध कर के हम लोक में निन्दा को प्राप्त हुए हैं ॥ ६ ॥ शूरवीर मार दिये, हमने पाप किया, अपना देश विनाश कर दिया, मार कर हमारा क्रोध अब जाता रहा, और शोक मुझे अब घेर रहा है ॥ ७ ॥ हे धनञ्जय किया हुआ पाप या भले कर्म से दूर होता है, अथवा प्रसिद्ध करने से, पश्चात्ताप से, दान से वा तप से ॥ ८ ॥ जिस ने (परिग्रह का) त्याग कर दिया है, वह फिर पाप नहीं करता है, यह श्रुति है ॥ ९ ॥ सो हे अर्जुन ! मैं अब सारे द्वन्द्वों से पार हो, ज्ञानयुक्त मुनि हो कर तुम सब से अनुमति ले कर वन को जाऊंगा ॥ १० ॥ तुम अब दूर हुए कांटों वाली इस समर्थ पृथिवी का शासन करो, मुझे अब हे कुरुवर न राज्य से न भोगों से प्रयोजन है ॥ ११ ॥

---

१२ दिन होता है, और युद्ध में मरों का अशौच होता ही नहीं, इस लिए यहां शौच से अभिप्राय शोक निवृत्ति का है, शोक निवृत्ति के लिए वे महीना भर बाहर ठहरे रहे ।

मूल—अर्जुन उवाच—अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्य मुत्तमं। यत्कृत्वाऽप्रानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमां ॥ १२ ॥ क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः। किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ १३ ॥ अभ्यस्तन मृषीणां हि विद्यते वेद तद्भवान् ॥ १४ ॥ यांस्त्विमं धर्म मित्याहुर्धनादेष प्रवर्तते। धर्म संहरते तस्य धनं हरति यस्य मः ॥ १५ ॥ अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चता। सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः॥१६॥ येषां राजाश्वमेधेन यजते दक्षिणावता। उपेत्य तस्यावभृथे पूताः सर्वे भवन्ति ते ॥ १७ ॥ भीम उवाच—यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीं। शस्त्रं नैव ग्रहीष्याम नवधिष्याम कञ्चन ॥१८॥ यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकं। पंकदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमं ॥ १९ ॥ यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन। आत्मानं घातयेत् पश्चात् कर्मेदं, नस्तथोपमं ॥ २० ॥ वयमेवात्र गर्ह्या हि यद्वयं मन्दचेतसं। त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ २१ ॥ यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात्। पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २२ ॥ अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत्। तस्मात् कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २३ ॥

अर्थ—अर्जुन बोले—अहो दुःख अहो विपत्ति अहो इतनी घबराहट कि मनुष्यों से ऊंचा कर्म कर के प्राप्त हुई लक्ष्मी को त्यागते हो ॥ १२ ॥ नपुंसक को वा दीर्घसूत्री को राज्य कहां, किस लिए आपने क्रोध से मूर्छित हो कर राजाओं का वध किया ॥ १३ ॥ फल की परवाह न करना ऋषियों का धर्म है,

यह आप जानते हैं ॥ १४ ॥ (गृहस्थ के लिए तो) जिस को धर्म कहते हैं, वह धन से पूरा होता है, विधाता उस के धर्म को हरलेता है, जिस के धन को हरता है ॥ १५ ॥ वेद को नित्य पढ़ना चाहिये, विद्वान् बनाना चाहिये, धन सर्वथा कमाना चाहिये और यत्न से यज्ञ करना चाहिये ॥ १६ ॥ जिनका राजा पूरी दक्षिणा वाला अश्वमेध यज्ञ करता है, उस के अवभृथ में उस के ज्ञातिजन साथ मिल कर पवित्र होते हैं ॥ १७ ॥ भीम बोले—यदि हम आप की ऐसी बुद्धि जानते, तो हम कभी शस्त्र न पकड़ते और किसी को न मारते ॥ १८ ॥ जैसे कोई पुरुष कुआं खोद कर जल प्राप्त किये बिना ही कीचड़ से लिबड़ा हुआ लौट आवे, यह हमारा काम वैसा होगा ॥ १९ ॥ जैसे कोई पुरुष शत्रुओं को मार कर पीछे आत्महत्या कर डाले, हे कुरुनन्दन ! यह हमारा कर्म वैसा है ॥ २० ॥ हम ही इस में निन्दार्ह हैं, जो कि 'बड़ा भाई है' ऐसा जान कर आप के पीछे चलते हैं ॥२१॥ यदि संन्यास से कोई राजा सिद्धि पा सके, तो पर्वत और वृक्ष झट सिद्धि पाजाएं ॥ २२ ॥ देखो कैसे सारा जगत् अपने २ कामों में लगा है, इस लिए कर्म ही कर्तव्य है, कर्महीन को सिद्धि नहीं है ॥ २३ ॥

मूल—अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे । अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा ॥ २४ ॥ कथं द्वैतवने राजन् पूर्व मुक्त्वा तथा वचः । भ्रातॄनेतान् स्म सहितान् शीतवातातपार्दितान् ॥ २५ ॥ वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीं । संपूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥ २६ ॥ यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धै रण दक्षिणैः । वनवास कृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥२७॥

इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्म भृतांवर । कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥ २८ ॥ मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः । ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्नराज्ञो राजसत्तम ॥ २९ ॥ असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनं । एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनं ॥ ३० ॥ न श्रुतेन न दानेन न सान्त्वेन न चेज्यया । त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ॥ ३१ ॥ यत्तद्बल ममित्राणां त्रिभिरंगै रनुत्तमं । तत्त्वया निहतं वीर तस्माद्भुंक्ष्व वसुन्धरां॥ ३२॥

अर्थ-यह सब सुन कर जब धर्मराज युधिष्ठिर कुछ न बोले, तब उत्तम स्त्री द्रौपदी बोली ॥ २४ ॥ हे राजन् ! द्वैतवन में शीत वात से पीड़ित भाइयों को यह कह कर, कि दुर्योधन को युद्ध में मार कर युद्ध में विजयी हो कर सारी कामनाओं से पूर्ण पृथिवी को भोगेंगे ॥२५–२६॥ और पर्याप्त दक्षिणा वाले समृद्ध यज्ञ करेंगे, तब यह वनवास का सारा दुःख आप के सुख के लिए होगा ॥ २७ ॥ इस प्रकार अपने आप अपने मुख से कह कर हे धर्मधारियों में श्रेष्ठ कैसे अब फिर हमारे मनों को डिगाते हो ॥ २८ ॥ सभी प्राणधारियों में मित्रता, दान, अध्ययन, और तप, हे राजवर यह ब्राह्मण के ही धर्म हैं, क्षत्रिय के नहीं॥२९॥ क्षत्रियों का परम धर्म है दुष्टों को दण्ड देना, और श्रेष्ठों की रक्षा करना और युद्ध में पीठ न दिखलाना ॥ ३० ॥ आप ने यह पृथिवी न विद्या से, न दान से, न चापलूसी से, न यज्ञ से, न याचना से पाई है ॥ ३१ ॥ किन्तु जो शत्रुओं का बल तीन अंगों (रथ, हाथी और घोड़ों) से बढ़ा चढ़ा हुआ था, उस को आपने मार कर पाई है, इस लिए आप पृथिवी को भोग ने योग्य हैं ॥ ३२ ॥

अ० २ (व० १५) दण्ड की महिमा

मूल—याज्ञसेन्यावचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत । अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतं ॥ १ ॥ दण्डः शास्तिप्रजाः सर्वा दण्डएवाभि रक्षति । दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥ राजदण्ड भयादेके परलोक भयादपि । परस्पर भयादेके पापाः पापं न कुर्वते ॥ ३ ॥ दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्परं । अन्धे तमसि मज्जयुर्यदि दण्डो न पालयेत ॥ ४ ॥ यस्माद दान्तान् दमयत शिष्टान् दण्डयत्यपि । दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥ ५ ॥ असंमोहाय मर्त्यानामर्थ संरक्षणाय च । मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशांपते ॥ ६ ॥ यत्रश्यामो लोहिताक्षः दण्डश्चरति सूद्यतः । प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत्साधु पश्यति ॥ ७ ॥ ना छित्वा परमर्माणि ना कृत्वा कर्म दुष्करं । ना हत्वा मत्स्य घातीव प्राप्नोति महतीं श्रियं ॥ ८ ॥ न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कंचिद हिंसया । सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तराः ॥ ९ ॥ नकुलो मूषिकानत्ति विडालो नकुलं तथा । विडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्याल मृगस्तथा ॥ १० ॥ विधानं दैव विहितं तत्र विद्वान्न मुह्यति । यथा सृष्टोसि राजेन्द्र तथा भवितु मर्हसि ॥ ११ ॥ विनावधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनं ॥ १२ ॥ उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च । न च कश्चिन्नतान् हन्ति किमन्यत प्राणयापनात ॥ १३ ॥ सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित । पक्ष्मणोपि निपातेन येषां स्यात स्कन्ध पर्ययः ॥ १४ ॥ दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिध्यन्त्युपक्रमाः । कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥ १५॥ चातुर्वर्ण्य प्रमो-

दाय सुनीति नयनाय च । दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुं ॥ १६ ॥ न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतर गर्दभाः । युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥ १७ ॥ न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातु कर्हिचित् । न तिष्ठेद् युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥ १८ ॥ न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वापि विद्यते । यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरि विनाशनः ॥ १९ ॥ लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतं । अहिंसा साधु हिंसेति श्रेयान् धर्म परिग्रहः ॥ २० ॥ नात्यन्तं गुणवत् किञ्चिन्नचाप्यत्यन्तनिर्गुणं । उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्व साधु वा ॥ २१ ॥ यज देहि प्रजा-रक्ष धर्म समनुपालय । अमित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥ २२ ॥ माच ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव । न तत्र किल्बिषं किञ्चित् कर्तुर्भवति भारत ॥ २३ ॥

अर्थ—द्रौपदी के वचन को सुन कर अर्जुन न फिसलने वाले महाबाहु जेठे भाई का सम्मान कर के फिर बोले ॥१॥ हे महाराज दण्ड ही सारी प्रजाओं पर शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, दण्ड सोए हुओं में जागता है, बुधजन दण्ड को धर्म कहते हैं ॥ २ ॥ कई पापी राजदण्ड के भय से, कई परलोक के भय से, कई आपस के (=समाज के) भय से पाप नहीं करते हैं ॥ ३ ॥ कई ऐसे हैं, जो दण्ड के ही भय से एक दूसरे को खा नहीं जाते, सब घोर अन्धकार (घोर अन्याय) में डूब जाएं, यदि दण्ड न बचाता रहे ॥ ४ ॥ दण्ड जिस लिए न सिधे हुओं को सिधाता है, और दुष्टों को सीधा कर देता है, इस सिधाने और सीधा कर देने के हेतु बुधजन इस को दण्ड कहते हैं ॥५॥ मनुष्यों को भूलों से बचाने और उन के स्वत्व की रक्षा के लिए लोक

में जो मर्यादा बांधी गई है, उसी का नाम दण्ड है ॥ ६ ॥ जहां श्याम मूर्ति लाल नेत्रों वाला दण्ड तय्यार पर तय्यार रहता है, वहां प्रजाओं में घबराहट नहीं होती, यदि दण्ड नेता ठीक २ देखता है ॥ ७ ॥ वैरियों के मर्म छेदे बिना, दुष्कर कर्म किये बिना, मछुए के समान मार काट किये बिना कोई भी महती श्री को नहीं पाता है (शत्रुओं में दण्ड ही फलता है) ॥ ८ ॥ इस लोक में मैं किसी को भी हिंसा के बिना जीविका करते नहीं देखता हूं । बलवत्तर प्राणी दुर्बल प्राणियों से जीविका करते हैं ॥९॥ (देखिये) नेवला चूहे को खाता है, बिल्ली नेवले को, कुत्ता बिल्ली को और चीता कुत्ते को खा जाता है ॥ १० ॥ यह सारी घटना देव की ही तो बनाई हुई है, इस लिए विद्वान् इस में संशय विपर्यय में नहीं पड़ता, आप जैसी सृष्टि में हो(क्षत्रिय हो)हे राजेन्द्र तुम्हें वैसा ही होना चाहिये ॥ ११ ॥ तपस्वी भी तो हिंसा के बिना प्राणयात्रा नहीं करसकते ॥ १२ ॥ जल में बहुत से जीव हैं, पृथिवी पर हैं, फलों में हैं, भला कोई ऐसा है, जो इन को नहीं मारता है, तो फिर प्राणयात्रा के सिवाय और क्या कहें ॥ १३ ॥ कई ऐसे सूक्ष्मयोनि जीव हैं, जो केवल तर्क गम्य ही हैं (आंखों से दीख सकते ही नहीं), जो नेत्र की पलक के आघात से भी नष्ट होजाते हैं (फिर उन की हिंसा से कौन बच सकता है, इस लिए स्वभाव सिद्ध कर्म में जो हिंसा है, वह हिंसा नहीं, सो अपने स्वभाव सिद्ध दण्ड धर्म को तुम क्यों कर अधर्म मान सकते हो) ॥ १४ ॥ हे कौन्तेय! मेरा यह पूर्ण विश्वास है, दण्ड प्रयोग करने पर ही सब लोगों के सारे कार्य सिद्ध होते हैं॥१५॥ चारों वर्ण की प्रजा की सुख वृद्धि के लिए, और सीधे मार्ग

पर चलाने के लिए, विधाता ने दण्ड का विधान किया है, जिस से भूमि पर धर्म अर्थ की रक्षा हो ॥ १६ ॥ यदि दण्ड न होता, तो ऊंट, बैल, घोड़े, खच्चर, गदहे सवारियों में, जुत कर कभी वाहन न करते ॥ १७ ॥ यदि दण्ड न हो, तो न नौकर आज्ञा मानें, न कभी बालक आज्ञा मानें, न युवति धर्म में स्थिर रहे ॥ १८ ॥ जहां शत्रुओं का नाश करने वाला दण्ड यथार्थ प्रयुक्त हो कर घूमता है, वहां न झूठ, न पाप, न ठगी रहती है ॥ १९ ॥ लोकयात्रा के लिए ही धर्म का प्रवच किया गया है, (भलों को पीड़ा देने वाले को) न मारना भलों की हिंसा है, वहां धर्म का पक्ष लेना ही (आर्तपरित्राण ही) (हिंसा से बचे रहने की अपेक्षा) बढ़ कर उत्तम है ॥ २० ॥ कोई भी कार्य न निरा गुणों वाला है, न निरा गुण हीन है, सभी कार्यों में गुण अवगुण दोनों ही दीखते हैं ॥ २१ ॥ हे कौन्तेय ! आप यज्ञों का अनुष्ठान करें, दान दें, प्रजा की रक्षा करें, शत्रुओं का नाश करें, मित्रों का पालन करें, इस प्रकार आप धर्मोपार्जन करें ॥ २२ ॥ हे राजन् ! शत्रुओं को मारते हुए आप को मत कभी शोक हो, हे भारत ! इस में मारने वाले को कोई पाप नहीं लगता है ॥ २३ ॥

अ० ३ (वं० १९-२३) व्यासादि का युधिष्ठिर को उपदेश

मूल—युधिष्ठिर उवाच—भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया । न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतो हं तेन तेऽर्जुन ॥ १ ॥ अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः । तस्माद्योगः प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुं ॥ २ ॥ कल्याण गोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च । कर्मसन्तातिं मुत्सृज्य स्यान्निरालंबनः सुखी ॥ ३ ॥

देवस्थान उवाच—अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधाजिता। तां जित्वा च वृथा राजन्न परित्यक्तु मर्हसि ॥ ४ ॥ चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता। तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥ ५ ॥ अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दयादमः। प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलं ॥ ६ ॥ एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुःस्वायम्भुवोऽब्रवीत्। तस्मात् तत्प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय ॥ ७ ॥ व्यास उवाच—बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद् युधिष्ठिर। न हि गार्हस्थ्य मुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ८ ॥ वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत्। पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद्वोढु मर्हसि ॥ ९ ॥ यज्ञो विद्या समुत्थानम संतोषः श्रियं प्रति। दण्डधारण मुग्रत्वं प्रजानां परिपालनं ॥ १० ॥ वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा। द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनं ॥ ११ ॥ एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशांपते। इमं लोक ममुंचैव साधयन्तीति नः श्रुतं ॥ १२ ॥ एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारण मुच्यते। अपिगाथा मिमां चापि बृहस्पति रगायत ॥ १३ ॥ भूमिरेतौ निगरति सर्पो बिलशयानिव। राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनं ॥ १४ ॥ अरण्ये दुःख वसतिरनुभूता तपस्विभिः। दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनु भवन्तु वै ॥ १५ ॥ धर्म मर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत। अनुभूय ततः पश्चात् प्रस्थातासि विशांपते ॥ १६ ॥ अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप। धर्मश्चा धर्मरूपोस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ १७ ॥ तस्मात्संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानासि पाण्डव। देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोसि भारत॥१८॥ यो हि पाप समारम्भे कार्ये तद्भाव भावितः। कुर्वन्नपि तथैवस्यात् कृत्वा च निरपत्रपः ॥ १९ ॥ तस्मिंस्तत्कलुषं सर्वं समाप्तमिति

शङ्कितं । प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥२० ॥ त्वं तु शुद्धाभिजातीयः परदोषेण कारितः । अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ २१ ॥ मेयं त्वामनुसंप्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा । निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयाऽनघ ॥ २२ ॥ तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन् सुहृद्वृतः । भ्रातॄन् पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥ २३ ॥ कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय । कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यति ॥ २४ ॥ अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्य मकण्टकं । रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान् यः प्रेत्य भारत ॥ २५ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे अर्जुन भ्रातृप्रेम से जो तुम ने मुझे न्याय्य और युक्तियुक्त वचन कहा है, इस से मैं तुम पर प्रसन्न हूं ॥ १ ॥ किन्तु वह गति, जिस को मोक्ष वाले पाते हैं, वह (इस मार्ग से बहुत ऊंची है) वह कहने में नहीं आसकती, उस के लिए योग ही एक मात्र मुख्य उपाय है, उस का जानना सब के लिए कठिन है ॥ २ ॥ मन को सर्व कल्याण में लगा कर तृष्णा को रोक कर, और कर्मजाल को त्याग कर, सारे द्वंद्वों से अलग हुआ पुरुष ही सुखी होता है ॥ ३ ॥ तब देवस्थान मुनि बोले—हे युधिष्ठिर ! आप ने धर्मानुसार सारी पृथिवी को जीता है, जीत कर अब उस को वृथा त्याग देना उचित नहीं है ॥ ४ ॥ देखो चार डंडों वाली सीढ़ी (चार आश्रम) ब्रह्मलोक में पहुंचाती है, हे राजन् क्रमशः उस पर चढ़ो ॥ ५ ॥ स्वायम्भुव मनु ने यह मुख्य धर्म कहे हैं, किसी से द्रोह न करना, सत्य बोलना, दान, दया, इन्द्रियनिग्रह, अपनी स्त्री से सन्तान उत्पन्न करना, नम्रता, ह्री (गैरत) और धीरज । हे राजन् आप इन्हीं

का यत्न से पालन कीजिये ॥ ६–७ ॥ तब व्यास बोले—हे सौम्य युधिष्ठिर ! अर्जुन का कहना सत्य ही है, तेरे लिए इस समय गृहाश्रम को त्याग कर वन का विधान नहीं है ॥ ८ ॥ आप को वेद का पूरा ज्ञान है, तप भी बहुत किया है, इस समय धुरन्धर पुरुष के समान तुम्हें बाप दादे का राज्यभार ही उठाना उचित है ॥ ९ ॥ यज्ञ करना, विद्या प्राप्त करना, उत्साही होना, राज्य श्री की ओर कभी संतोष न होना (श्री के बढ़ाने में ही लगे रहना), दण्ड धारना, उग्र (तेजस्वी) होना, प्रजाओं का पालन ॥ १० ॥ वेद का पूर्ण ज्ञान, तपश्चर्या, धन का उपार्जन और पात्र में दान ॥ ११ ॥ ये सब क्षत्रियों के पुण्य कर्म कहे हैं, जो इस लोक और परलोक के साधक हैं, यह हमने श्रुति का आशय समझा है ॥ १२ ॥ इनमें से हे राजन् दण्ड धारण सब से बढ़ कर कहा है, बृहस्पति ने भी इस विषय में यह गाथा गाई है॥ १३ ॥ जैसे सांप चूहों को निगलता है, इस प्रकार भूमि इन दोनों को निगल लेती है, जो राजा हो कर (शत्रुओं से) विरोध करने वाला नहीं, और ब्राह्मण हो कर प्रवासी नहीं ॥ १४ ॥ आप के भाइयों ने तपस्वी बन कर वन में दुःखवास भोगा है, अब वे दुःख के अन्त में हे नरवर सुख का उपभोग करें ॥ १५ ॥ हे भारत ! भाइयों के साथ मिल कर धर्म अर्थ काम का सेवन कर के पीछे प्रस्थान करना ॥ १६ ॥ कोई धर्म भी अधर्म रूप भासता है (जैसे यहां ही युद्ध में गुरुओं का मरवाना) कोई वस्तुतः अधर्म धर्म भासता है (जैसे डाकुओं को वन में से जाते साथ का मार्ग बताना) यह मर्म समझदार को समझना चाहिये ॥ १७ ॥ इस लिए धीरज धरो, हे पाण्डव तुमने शास्त्र सुने हैं, देवता जिस मार्ग

पर चले हैं, उसी मार्ग पर तुम चले हो ॥ १८ ॥ जो पाप की वासना से वासित हो कर पापकार्य में प्रवृत्त होता है, करता हुआ भी वैसी ही वासना रखता है, और कर के भी लज्जित नहीं होता ॥ १९ ॥ उस को वह पाप पूरा फल दिखाता है, यह शास्त्र में कहा गया है, उस के पापकर्म का न कोई प्रायश्चित्त है, न उस में कमी होती है ॥ २० ॥ तुम्हारा तो स्वभाव शुद्ध है, दूसरे (दुर्योधन) के दोष से यह तुम से कर्म करवाया गया है, तुम चाहते न थे, और करके भी तुम अनुतप्त हो रहे हो (तुम कैसे पापी हो) ॥ २१ ॥ यह भूमि तुम को (क्षत्रियोचित) पराक्रम से मिली है, और पराक्रम से हे निष्पाप तुम ने राजे जीते हैं ॥ २२ ॥ अब सुहृदों के साथ उन के पुरों और देशों में जाकर, उन के भाइयों, पुत्रों और पोतों को अपने २ राज्य में अभिषेक दो ॥ २३ ॥ जिन का कोई कुमार नहीं, वहां कन्याओं को अभिषेक दो, इस प्रकार पूर्णकाम हो कर स्त्रीवर्ग भी शोक को त्यागेगा ॥ २४ ॥ इस समय तुम ने क्षत्रियों का यथार्थ धर्म और निष्कण्टक राज्य दोनों पाए हैं, हे कौन्तेय अपने धर्म का पालन करो, जो परलोक में तुम्हारा कल्याणकारी हो ॥ २५ ॥

अ० ४ (व० ३७-३८) पाण्डवों का पुर प्रवेश

मूल—युधिष्ठिर उवाच—श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने । राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥ १ ॥ धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते । एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः ॥ २ ॥ व्यास उवाच—श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं निखिलेन नराधिप । प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहं ॥ ३ ॥

स ते धर्मरहस्येषु संशयान्मनसि स्थितान् । छेत्ता भागीरथी पुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित् ॥ ४ ॥ तमभ्येहि पुरा प्राणान् स विमुञ्चति धर्मवित् ॥ ५ ॥ वासुदेव उवाच—नेदानीमति निर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि । यदाह भगवान् व्यासस्तत्कुरुष्व नृपोत्तम ॥ ६ ॥ सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परंतप । कुरुप्रिय ममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥ ७ ॥ एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः । हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥ ८ ॥ स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ ९ ॥ ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतं । युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥ १० ॥ मन्त्रैरभ्यर्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च वन्दिभिः । आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथं ॥११॥ जग्राह रश्मीन् कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः । अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥ १२ ॥ चामरव्यजने त्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा । चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥ १३ ॥ रथं हेममयं शुभ्रं शैब्यसुग्रीवयोजितं । सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात् कुरून् ॥ १४ ॥ नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत । अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारी सहितो ययौ ॥ १५ ॥ कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा तथैव च । यानै रुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः ॥ १६ ॥ ततो रथाश्च बहुला नागाश्च समलं कृताः । पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥ १७ ॥ अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः । नगरं राजमार्गाश्च यथावत्समलं कृताः ॥ १८ ॥ पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च मेदिनी । संस्कृतो राजमार्गोऽभूद्धूपनैश्च प्रधूपितः ॥ १९ ॥ कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः । सिताः सुमनसो गौराः स्थापि-

तास्तत्र तत्र ह ॥ २० ॥ प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनां,। दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥ २१ ॥ स राजमार्गः शुशुभे समलंकृत चत्वरः । यथा चन्द्रोदये राजन् वर्धमानो महोदधिः ॥ २२ ॥ गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च । प्राकम्पन्तीव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ २३ ॥ प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमं । श्रद्धाविजयसंयुक्तं रथाद पश्चादवातरत ॥ २४ ॥ ततः पुण्याह घोषोऽभूद् दिवं स्तब्ध्वेव भारत । सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुति सुखावहः ॥ २५ ॥ ततो दुन्दुभि निर्घोषः शंखानां च मनोरमः । जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुर भून्नृप ॥ २६ ॥

अर्थ--युधिष्ठिर बोले, भगवन् महामुने ! मैं राजधर्मों और चारों वर्णों के सारे धर्मों को सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥ धर्मचर्या और राज्य परस्पर विरोधी हैं, यही सोचते हुए मेरे चित्त को सदा मोह होता रहता है ॥ २ ॥ व्यास बोले—हे राजन् ! यदि तुम्हें सम्पूर्ण धर्म जानने की इच्छा हुई है, तो तुम कुरुपितामह वृद्ध भीष्म के निकट जाओ ॥ ३ सर्व धर्मवित् भीष्म धर्म के रहस्यों के विषय में आप के मन में जितने संदेह हैं, उन सब को काटेंगे ॥ ४ ॥ परन्तु उस महात्मा के प्राण त्यागने से पहले ही तुम उस के निकट पहुंचो ॥ ५ ॥ श्रीकृष्ण बोले—हे महाराज ! अब बीते शोक के विषय में आप को बहुत आग्रह नहीं करना चाहिये, जो भगवान् व्यास कहते हैं, वह कीजिये ॥ ६ ॥ हे शत्रुनाशन हे परंतप ! अस्मदादि सुहृदों का और द्रौपदी का प्रियकर और सारे जगत् का हितकर कर्म कीजिये ॥७॥ कृष्ण के वचन सुन कमलनेत्र विशाल हृदय राजा सारे लोगों के हित

के लिए उठ खड़ा हुआ ॥ ८ ॥ और तारों से घिरे चन्द्र के समान भाइयों और ऋषियों से घिरा हुआ धृतराष्ट्र को आगे कर के पुर में प्रविष्ट होने को तय्यार हुआ ॥ ९ ॥ तब शुभ लक्षणों वाले सोलह बैलों से जुते हुए, कम्बल और अजिन से युक्त श्वेत वर्ण नए रथ पर युधिष्ठिर पवित्र मन्त्रों की ध्वनि और बन्दियों के स्तोत्र सुनते हुए आरूढ हुए, जैसे चन्द्रदेव आकाश पर आरूढ होते हैं ॥ १०—११ ॥ भीम पराक्रम वाले भीम ने रासें पकड़ीं, अर्जुन मणि रत्नों से भूषित श्वेत छत्र पकड़ कर पीछे खड़े हुए ॥ १२ ॥ वीर नकुल और सहदेव चन्द्ररश्मियों के तुल्य प्रभा वाले दो श्वेत चंवर पकड़ कर दोनों ओर खड़े हो डुलाने लगे ॥ १३ ॥ शैब्य और सुग्रीव घोड़ों को जोड़ कर सुवर्ण भूषित शुभ्र रथ पर श्रीकृष्ण सात्यकि समेत आरूढ हो कर पीछे चले ॥ १४ ॥ धृतराष्ट्र और गान्धारी पालकियों पर आरूढ हो युधिष्ठिर के आगे २ चले ॥ १५ ॥ कुरुस्त्रियें सारी तथा कुन्ती और द्रौपदी भिन्न २ यानों से विदुर के साथ गईं ॥ १६ ॥ पीछे बहुत से रथ, सजे हुए हाथी, प्यादे और घोड़े चले ॥ १७ ॥ उस समय सारा नगर और राज मार्ग नगरवासियों ने सजा दिये थे ॥१८॥ श्वेत मालाओं और झण्डियों से राजमार्ग सजा हुआ धुखते धूपों से महक रहा था ॥ १९ ॥ नगरद्वार में जल से भरे नए दृढ घड़े, और जहां तहां श्वेत पुष्प थे ॥ २० ॥ पाण्डवों के प्रवेश के समय अनगिनत पुरवासी जन देखने के लिए इकट्ठे हुए ॥ २१ ॥ राजमार्ग और मनुष्यों से भरे उस के चौतरे चन्द्रोदय के समय बढ़े हुए समुद्र की भांति शोभा पाने लगे ॥ २२ ॥ राजमार्गों पर लटकती रत्नों की झालरों वाले घर स्त्रियों के समूहों से पूर्ण हुए

ऐसे जान पड़ते थे, मानों हिल रहे हैं ॥ २३ ॥ (पूर्वजों का भवन होने के हेतु) श्रद्धा से और (अब) विजय से युक्त, देवराज के भवन के तुल्य भवन में प्रवेश कर के राजा पीछे रथ से उतरे ॥ २४ ॥ तब हे भारत ! सुहृदों को आनन्दित करने वाली कानों को सुख देने वाली पुण्याह वाचन की ध्वनि गूंजने लगी ॥ २५ ॥ अनन्तर दुन्दुभियों की ध्वनि शंखों की ध्वनि और जय २ कार की ध्वनि चारों ओर गूंज गई ॥ २६ ॥

अ० ५ (व० ४०-५१) राज्य प्रबन्ध विधान करके भीष्म के निकट गमन

मूल—दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः । जुहाव पावकं धीमान् विधिमन्त्र पुरस्कृतं ॥ १ ॥ तत उत्थाय दाशार्हः शंखमादाय पूजितं । अभ्यषिंचत्पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरं ॥ २ ॥ ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयन् । वेदाध्ययनसंपन्नान् धृतिशील समन्वितान् ॥ ३ ॥ ततः प्रसार्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः । प्रतिपेदे महद्राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर उवाच—धृतराष्ट्रो महाराजः पिता मे दैवतं परं । शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियं कांक्षिभिः ॥ ५ ॥ यदि चाह मनुग्राह्यो भवतां सुहृदां तथा । धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥ ६ ॥ एष नाथो हि जगतां भवतां च मया सह । अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥ ७ ॥ पौरजान पदान् सर्वान् विसृज्य कुरुनन्दनः । यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेन मयोजयत् ॥ ८ ॥ मन्त्रे च निश्चये चैव षाड् गुण्यस्य च चिन्तने । विदुरं बुद्धि संपन्नं प्रीतिमान् स समादिशत ॥ ९ ॥ कृताकृत परि-

ज्ञाने तथाऽऽयव्यय चिन्तने । संजयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतं ॥ १० ॥ बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा । नकुलं व्यादिशद्राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥ ११ ॥ परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने । युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥ १२ ॥ द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह । धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥ १३ ॥ सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत् । तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशांपते ॥ १४ ॥ सभाः प्रपाश्च विविधास्तटाकानि च पाण्डवाः । सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्व देहिकं ॥ १५ ॥ याश्च तत्रास्त्रियः काश्चिद्धत वीरा हतात्मजाः । सर्वास्ताः कौरवो राजा संपूज्याऽपालयद् घृणी ॥ १६ ॥ दीनान्ध कृपणानां च गृहाच्छादन भोजनैः । आनृशंस्य परो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ॥ १७ ॥

अर्थ—अब श्रीकृष्ण की अनुज्ञा से धौम्य पुरोहित ने विधि पूर्वक मन्त्रों से हवन कराया ॥ १ ॥ अनन्तर श्रीकृष्ण उठे, और पूजित शंख से युधिष्ठिर का राज्याभिषेक किया ॥२॥ और वेदाध्ययन किये हुए धैर्य और शीलवान् ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया और सहस्रों मुहरें दीं ॥ ३ ॥ तब प्रजा के प्रतिष्ठित पुरुषों से पूजा पाकर राजा युधिष्ठिर ने सुहृदों समेत उस बड़े राज्य को स्वीकार किया ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर बोले—मेरे पिता महाराज धृतराष्ट्र मेरे परम देवता हैं, आप को इन के शासन में और हित में रहना चाहिये, यही मेरा प्रिय करना है ॥ ५ ॥ यदि आप सुहृदों का मैं अनुग्राह्य हूं, तो धृतराष्ट्र के विषय में वही पहला बर्ताव आप को रखना चाहिये ॥६॥ यही जगत् के मेरे और आप के नाथ हैं, सारा राज्य इन्हीं का है, और पाण्डव

सारे भी इन्हीं के हैं ॥ ७ ॥ फिर पुर और देश के प्रजाजनों को विदा करके युधिष्ठिर ने भीमसेन को यौवराज्य में अभिषेक दिया ॥ ८॥ मन्त्र में कार्य निश्चय में और छः गुणों के विचार में बुद्धिमान् विदुर को नियत किया ॥ ९ ॥ बन चुके और बनने योग्य के जानने और आय व्यय के चिन्तन में सर्वगुण सम्पन्न वृद्ध संजय को युक्त किया ॥ १० ॥ सेना का परिमाण रखने, उन्हें भक्त (रसद) और वेतन देने और सेना सम्बन्धी अन्य कर्मों के निरीक्षण में नकुल को नियुक्त किया ॥ ११ ॥ शत्रुओं के आक्रमण को रोकने और आक्रमण करने और दुष्टों के दमन करने में अर्जुन को नियत किया ॥ १२ ॥ द्विजों के जो देवकार्य और दूसरे धर्मकार्य हैं, उन के पूरा करने में पुरोहितवर धौम्य को नियुक्त किया ॥ १३ ॥ सहदेव को अपने पास रख कर अंगरक्षक नियत किया ॥ १४ ॥ अब जो युद्ध में सुहृद मरे थे, उन के नाम पर अलग २ धर्मशाले, प्याउ और तालाब लगवाए ॥ १५ ॥ स्त्रियें जिन के पति और पुत्र युद्ध में मारे गए थे, दयालु राजा ने उन सब की जीविका का प्रबन्ध किया॥१६॥ और दयापरायण राजा ने दीन अंधे और अनाथों के गृह भोजन और आच्छादन का प्रबन्ध किया ॥ १७ ॥

मूल—ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः । कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥ १८॥ रथैस्तैर्नगर प्रख्यैः पताकाध्वज शोभितैः । ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥ १९ ॥ तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थि संकुलं । देहन्यासः कृतोयत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ २० ॥ ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनं । स्वरश्मिजाल संवीतं सायं सूर्यसमप्रभं॥२१॥

उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुं । देशे परम धर्मिष्ठे नदीमोघ-
वती मनु ॥ २२ ॥ दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः ।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः ॥ २३ ॥ अवस्कन्द्याथ
वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः । एकीकृत्येन्द्रियग्राम मुपतस्थुर्महा-
मुनीन् ॥ २४ ॥ परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥ २५ ॥
ततो निशाम्य गांगेयं शाम्यमान मिवानलं । किञ्चिद्दीन मना भी-
ष्म मितिहोवाच केशवः ॥ २६ ॥ कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रस-
न्नानि यथापुरा । शराभिघातदुःखार्त्ते कच्चिद्गात्रं न दूयते ॥२७॥
मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः । भवतो वा गुणैर्युक्तः
पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥ २८ ॥ तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां
संक्षयेण वै । ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ॥२९॥
ये हि धर्माः समाख्यातारश्चातुर्वर्ण्यस्य भारत । चातुराश्रम्य संयुक्ताः
सर्वे ते विदितास्तव ॥ ३० ॥ देशजाति कुलानां च जानीषे धर्म
लक्षणं । वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥ ३१ ॥
इतिहास पुराणार्थाः कार्त्स्न्येन विदितास्तव । धर्मशास्त्रं च सकलं
नित्यं मनसि ते स्थितं ॥ ३२ ॥ ये च केचनलोकेऽस्मिन्नर्थाः संशय-
कारकाः । तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥ ३३ ॥
तज्ज्ञाति शोकोपहत श्रुताय सत्याभि सन्धाय युधिष्ठिराय । प्रब्रूहि
धर्मार्थसमाधियुक्तं सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकं ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनन्तर श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिर कृपाचार्यादि और चारों पाण्डव, झंडी झंडों से शोभित नगर समान रथों में शीघ्रगामी घोड़े जोड़ कर कुरुक्षेत्र को गए ॥ १८—१९ ॥ वे केश चर्बी और हड्डियों से भरे कुरुक्षेत्र में पहुंचे, जहां महात्मा क्षत्रियों ने देह त्याग किया था ॥ २० ॥ फिर उन्होंने बाण शय्या पर सोए

भीष्म को देखा, जो सायंकालीन सूर्य के समान अपने तेज समूह से भरे थे, ओघवती नदी के निकट परमपुनीत देश में मुनियों से घिरे थे, जैसे इन्द्र देवताओं से ॥ २२ दूर से ही उन को देख कर श्रीकृष्ण युधिष्ठिर उन के चारों भाई और कृप आदि वाहनों से उतर कर इन्द्रिय समूह को रोक मन को एकाग्र कर महा मुनियों के निकट पहुंचे ॥ २४ ॥ और वे पुरुषवर भीष्म के चारों ओर बैठ गए ॥ २५ ॥ अनन्तर धीरे २ ठंडी होने लगी अग्नि के समान भीष्म को देख कर किंचित् दीन मन हो कर भीष्म से बोले ॥ २६ ॥ आप के ज्ञानेन्द्रिय वैसे प्रसन्न हैं, जैसे पूर्व थे, बाणों की चोट से क्या आप का शरीर पीड़ित तो नहीं होरहा ॥ २७ ॥ हे नरेन्द्र मैंने मनुष्यों में आप जैसे गुणों वाला कोई पुरुष न कहीं देखा न सुना है ॥ २८ ॥ आप इस ज्ञातिनाश से संतप्त हुए युधिष्ठिर के शोक को दूर कीजिये ॥ २९ ॥ हे भारत जो धर्म चारों वर्णों और चारों आश्रमों के बतलाए गए हैं, वे सब आप को विदित हैं ॥ ३० ॥ आप देश जाति और कुलों के धर्मों को जानते हैं, वेदों से कहा और वैदिकों से कहा सब धर्म आप को विदित है ॥ ३१ ॥ इतिहास और पुराणों की सब बातें आप को विदित हैं, और धर्मशास्त्र सारा सदा आप के मन में स्थित है ॥ ३२ ॥ इस लोक में जो बातें संशयजनक हैं, उन का काटने वाला आप से भिन्न और कोई नहीं है॥३३॥ सो ज्ञातियों के शोक से धर्म में व्यामोहित हुए सत्यवादी युधिष्ठिर को आप धर्म अर्थ और ज्ञान युक्त सत्य वचन उपदेश कर के इस का शोक दूर कीजिये ॥ ३४ ॥

अ० ६ (व० ५५) राजधर्म

मूल-भीष्म उवाच—हन्त धर्मान् प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम। युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ॥ १ ॥ एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः। विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥ २ ॥ अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तं। मूर्ध्नि चैन मुपाघ्राय निषीदेत्य ब्रवीत्तदा ॥ ३ ॥ तमुवाचाथ गांगेयो वृषभः सर्व धन्विनां। मां पृच्छ तात विश्रब्धं मामैस्त्वं कुरुसत्तम ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर उवाच—राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्म विदोविदुः। महान्तमेनं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥ ५ ॥ यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्यांकुशो यथा। नरेन्द्र धर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतं ॥ ६ ॥ तत्र चेत्संप्रमुह्येत धर्मे राजर्षि सेविते। लोकस्य संस्था न भवेत्सर्वं च व्याकुली भवेत्॥ ७ ॥ तदग्रे राजधर्मान् हि मदर्थे त्वं पितामह। प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतांवरः ॥ ८ ॥ भीष्म उवाच—शृणु कात्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान् युधिष्ठिर। निरुच्यमानान्नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥ ९ ॥ आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया। देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथा विधि ॥ १० ॥ उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर। न ह्युत्थान मृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत्॥ ११ ॥ विपन्ने च समारम्भे संतापं मास्म वै कृथाः। घटस्वैव सदात्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥ १२ ॥ न हि सत्यादृते किञ्चिद्राज्ञां वै सिद्धि कारकं। सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १३ ॥ गुणवान् शीलवान् दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः। सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १४ ॥ मृदुर्हि राजा सततं लंघ्यो भवति सर्वश। तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्माद् भय माश्रय ॥ १५ ॥

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । निगृह्णीयात स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥ १६ ॥ यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोनुगं । गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्य संशयं ॥ १७ ॥ वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना । स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत ॥ १८ ॥ न संत्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव । धीरस्य स्पष्ट दण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित॥१९॥ अवमन्यन्ति भर्तारं संघर्षादुपजीविनः । स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लंघयन्ति च तद्वचः ॥ २० ॥ प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते । वरकाचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनु विहन्ति च ॥ २१ ॥

अर्थ—अहो मैं धर्म कहूंगा, मेरे मन और वाणी दृढ हैं, पर धर्मात्मा युधिष्ठिर स्वयं मुझ से धर्म पूछे ॥ १ ॥ भीष्म का वचन सुन धर्मराज युधिष्ठिर ने विनीतभाव से भीष्म के संमुख आ चरण छू कर प्रणाम किया, भीष्म ने भी प्रसन्न हो कर उस का सिर चूमा, और बैठने की आज्ञा दी ॥ २—३ ॥ (बैठ जाने पर) धनुर्धारियों में श्रेष्ठ भीष्म उस से बोले, हे तात ! तुम कुछ भी भय न करो, विश्वस्त हो कर मुझ से पूछो ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे पितामह धर्म के जानने वाले राजाओं के धर्म को परम धर्म कहते हैं, मैं इस भार को बड़ा भारी मानता हूं, सो मुझे कहिये ॥ ५ ॥ जैसे घोड़े को लगाम और हाथी को अंकुस स्थित रखता है, वैसे राजधर्म सब लोगों का नियन्ता माना गया है ॥ ६ ॥ सो इस राजर्षियों से सेवित धर्म में यदि भूल हो, तो लोक की कोई संस्था स्थिर नहीं रहती, सब उलट पलट होजाता है ॥ ७ ॥ सो हे पितामह ! पहले आप मेरे लिए राजधर्म ही

कहिये, आप धर्मधारियों में श्रेष्ठ हैं ॥ ८ ॥ भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर सम्पूर्ण राजधर्म तथा और भी जो तुम्हारी सुनने की इच्छा हो, सावधान हो कर मुझ से सुनो ॥ ९ ॥ हे कुरुवर राजा को प्रथम प्रजा को प्रसन्न रखने के लिए देवता और ब्राह्मणों में यथा विधि वर्तना चाहिये (यज्ञ दानादि करने चाहिये)॥१०॥ हे पुत्र युधिष्ठिर सदा पुरुषार्थ से यत्न करना, उद्योग के विना केवल दैव से राजाओं के काम नहीं सिद्ध हो सकते ॥ ११ ॥ यदि आरम्भ किया कर्म निष्फल जावे, तो भी मन में दुःखित न हो कर सदा उस में लगा रहे (पूरा कर के ही छोड़े) यही राजाओं की परम नीति है ॥ १२ ॥ सत्य के अतिरिक्त और कुछ भी राजाओं का कार्यसाधक नहीं है, सत्य में प्रीति वाला राजा यहां और परलोक में आनन्दित होता है ॥ १३ ॥ गुणवान्, शीलयुक्त, संयमी, मृदु, धर्मात्मा, जितेन्द्रिय, प्रसन्न वदन, उदार हृदय कभी श्रीभ्रष्ट नहीं होता है ॥ १४ ॥ राजा निरा मृदु हो, तो लोग उस की परवाह नहीं करते, निरा कठोर हो, तो उस से परे रहते हैं, इस लिए दोनों भावों का सहारा लिये रहो ॥ १५ ॥ शस्त्र उठा कर जो रण में मारने को आ रहा है, चाहे वह वेद के पार पहुंचा हुआ भी हो, धर्म पर दृष्टि रखने वाला राजा उस को अपने धर्म से दण्ड देवे ॥ १६ ॥ जैसे गर्भिणी अपने मन का प्रिय त्याग कर गर्भ का कल्याण चाहती है, वैसे राजा भी सदा धर्मानुसार अपना प्रिय त्याग कर, वह काम करे, जिस में प्रजा का हित हो ॥ १७—१८ ॥ हे पाण्डव तुझे धैर्य कभी नहीं छोड़ना चाहिये, धीर और विख्यात दण्ड(सेना आदि)रखने से राजा को कहीं से भय नहीं होता है॥१९॥

बहुत संघर्ष (हंसी ठट्ठे तक के मेल जोल) से सेवक अपमान करने लग जाते हैं, अपने पद पर नहीं ठहरते, और उस की आज्ञा का लंघन करते हैं ॥ २० ॥ आज्ञा देने पर विकल्प उठाते हैं, गुह्य बातों के पूछने का भी साहस करते हैं । घूस और ठगियों से व्यवहार बिगड़ते हैं ॥ २१ ॥

अ० ७ (व० ५६–५८) राजधर्म

मूल—गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथ प्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ॥ १ ॥ न हिंस्यात् परवित्तानि देयं काले च दापयेत् । अभृतानां भवेद् भर्ता मृतानां चान्ववेक्षकः ॥ २ ॥ शूरान् भक्तानसंहार्यान् कुलेजातानरोगिणः । विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ॥ ३ ॥ सहायान् सततं कुर्याद्राजा भूतिं परिष्कृतः । तैश्च तुल्यो भवेद्भोगैश्छत्र मात्राज्ञयाधिकः ॥ ४ ॥ सर्वाभिशंकी नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत् । क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव वध्यते ॥ ५ ॥ शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्त ग्रहे रतः । न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥ ६ ॥ पुत्राइव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः । निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ७ ॥ अगूढविभवा यस्य पौराराष्ट्र निवासिनः । नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥ ८ ॥ वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः । विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ९ ॥ न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः । विषये भूमिपालस्य तस्य धर्माः सनातनाः ॥ १० ॥ यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः । सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ११ ॥ चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् ।

युक्त्या दानं नचादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ १२ ॥ सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितं । अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनं ॥ १३ ॥ केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदतां । द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥ १४ ॥ साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणं।निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि॥१५॥ बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानां मन्त्रवेक्षणं । कार्येष्वखेदः कोषस्य तथैव च विवर्धनं ॥ १६ ॥ नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थान मेव च ॥ १७ ॥ उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरान धितिष्ठति। उत्थान वीरान् वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥ १८ ॥ उत्थान हीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः । प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजंग इव निर्विषः ॥ १९ ॥ न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोपि बलीयसा । अल्पोपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ २० ॥ एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः । भूयस्ते यत्र संदेहस्तद्ब्रूहि कुरुसत्तम ॥ २१ ॥ यु०उ०स्व इदानीं स्वसंदेहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह॥२२॥प्रदक्षिणी कृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः । उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयं ॥ २३ ॥

अर्थ-पूजनीय पुरुष भी जब अभिमानी हो, कार्य अकार्य को न जाने कुमार्ग में चले, तो उस को पूरा दण्ड देना चाहिये ॥ १ ॥ पराये धन का लालच न करे, और देने योग्य (वेतन वा पारितोषिक) समय पर देवे, यदि किसी (सेवक वा पात्र) की पालना नहीं होती है, तो उस की पालना करे, जिन की पालना हो रही है, उन का ध्यान रखे ॥ २ ॥ जो शूर भक्त, न बहकने वाले, कुलीन, अरोगी, विद्वान्, लोकव्यवहार के जानने

वाले, परलोक पर दृष्टि रखने वाले पुरुषों को ही सदा अपने साथी बनाए, भोगों में उन के बराबर केवल छत्र के नीचे बैठ कर आज्ञा देने में उन से अधिक हो ॥ ३—४ ॥ जो राजा सब पर शंका रखने वाला और सब से छीनने वाला हो, वह टेढ़ी चाल वाला लालची अपने ही लोगों से मारा जाता है ॥ ५ ॥ जो राजा शुद्ध चरित्र है, और लोगों के चित्तों को अपनी ओर खींचे हुए है, वह चारों ओर से शत्रुओं से ग्रसा हुआ भी कभी नहीं गिरता है, बराबर खड़ा रहता है ॥ ६ ॥ जिस के देश में प्रजाजन ऐसे निर्भय हो कर विचरते हैं, जैसे पिता के घर में पुत्र हों, वह राजा राजाओं में श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ जिस के देश में प्रजाजन अपने धनों को छिपाते नहीं, तथा नीति और अपनीति के जानने वाले हैं, वह राजा राजसत्तम है ॥ ८ ॥ जिस की सारी प्रजा अधीन है, नीति पर चलने वाली है, आज्ञा कारी है, लड़ाई झगड़े नहीं उठाती है और दान में रुचि वाली है, वह सच्चा राजा है ॥ ९ ॥ जिस राजा के राज्य में झूठ, कपट छल मत्सर नहीं होते, वह राजाओं के सनातन धर्म पर स्थित है ॥ १० ॥ जो विद्याओं का आदर करता है, ज्ञान के बढाने और प्रजा के हित में तत्पर है, साधुओं के मार्ग पर चलता है, और त्यागी है, वह राजा राज्य के योग्य होता है ॥ ११ ॥ गुप्तचर, दूत, समयानुसार मत्सर रहित हो कर दान देना, युक्ति से देना, और न युक्ति के विना लेना ॥ १२ ॥ भले पुरुषों का संग्रह, शौर्य, फुर्तीलापन, सत्य, प्रजा का हित, शत्रुपक्ष को टेढ़े वा सरल सभी उपायों से फोड़ देना ॥ १३ ॥ पुराने और टूटे ऐतिहासिक स्थानों की निरीक्षा, शारीरिक दण्ड और अर्थ दण्ड का समयानुसार प्रयोग

॥ १४ ॥ भलों और कुलीनों का त्याग न कर के उन को कार्यों पर लगाना, सब प्रकार के भंडार भरते रहना, बुद्धिमानों की सेवा ॥ १५ ॥ सैनिकों को उत्साहित करते रहना, प्रजाओं की अवस्था को देखते रहना, कार्यों में कभी न थकना, कोश को बढ़ाते रहना ॥ १७ ॥ नीति मार्ग का अनुगामी होना, लगातार उद्योग करना राजा का कर्तव्य है ॥ १७ ॥ उद्योग वीर पुरुष वाग्वीरों पर राज्य किया करते हैं, और वाग्वीर पुरुष उद्योगवीरों को (अपने वचनों से) प्रसन्न करते हुए उन की सेवा किया करते हैं ॥ १८ ॥ उद्योग हीन राजा चाहे बुद्धिमान् भी हो, तो भी निर्विष सर्प की भांति शत्रुओं से दबाया जाता है ॥१९॥ स्वयं बहुत बल वाले हो कर भी दुर्बल शत्रु की भी बेपरवाही नहीं करनी चाहिये, तनिक भी चिंगाड़ी जला देती है और थोड़ा भी विष मार डालता है ॥ २० ॥ यह तुझे राजधर्मों का संक्षेप कहा है, और जिस बात में तुझे संदेह है, वह कहो हे कुरुवर ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे पितामह कल अब मैं आप से अपना संदेह पूछूंगा ॥ २२ ॥ अनन्तर वे भीष्म की प्रदक्षिणा करके प्रसन्नता से रथों पर चढ़े, और यथा विधि नदी पर सन्ध्या उपास कर हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए ॥ २३ ॥

अ० ८ (त्रृ० ६०-६५) वर्णों और आश्रमों के धर्म

मूल—ततः पुनः स गांगेय मभिवाद्य पितामहं । प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्य पृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ के धर्माः सर्व वर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् । चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥ २ ॥ भीष्म उवाच—अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।

प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥ ३ ॥ आर्जवं भृत्यभरणं नवैते सार्ववर्णिकाः । ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलं ॥ ४ ॥ दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनं । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ५ ॥ तं चेद्वित्त मुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि । कुर्वीतापत्य संतान मथोदद्याद्यजेत च ॥ ६ ॥ क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत । दद्याद्राजन् न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥ ७ ॥ नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् । नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमं ॥ ८ ॥ दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः । पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिति ॥ ९ ॥ शूद्र एतान् परिचरेत् त्रीन् वर्णाननु पूर्वशः । अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ॥ १० ॥

अर्थ—फिर (दूसरे दिन) युधिष्ठिर भीष्मपितामह को प्रणाम कर हाथ जोड़ विनीत भाव से पूछने लगे ॥ १ ॥ हे पितामह ! चारों वर्णों के सांझे धर्म क्या हैं, और उन के अलग २ धर्म क्या हैं, तथा चारों वर्णों के आश्रमों के और उन की ओर राज धर्म क्या हैं ॥ २ ॥ भीष्म बोले—क्रोध न करना, सत्य बोलना, बांट कर भोगना, (कमाई में से दान दे कर अपने भरण पोषण के योग्यों के साथ भोगना), क्षमा, अपनी धर्मपत्नी से सन्तानोत्पादन, पवित्रता, किसी से द्रोह न करना ॥ ३ ॥ सरलता, जिन के भरण पोषण का भार अपने ऊपर है, उन का भरण पोषण, यह नौ धर्म सब वर्णों के सांझे हैं, अब जो निरा ब्राह्मण का धर्म है, वह तुझे कहूंगा ॥ ४ ॥ हे महाराज इन्द्रियों का निग्रह और वेद का अभ्यास यही उस का मुख्य धर्म कहते हैं, इस में उस का सारा कर्तव्य समाप्त हो जाता है ॥ ५ ॥ इस अपने कर्त-

ण्य में स्थित रहने पर यदि स्वयं उस के पास धन आ जावे, तब विवाह करके संतानोत्पादन करे, दान दे और यज्ञ करे ॥६॥ हे भारत जो क्षत्रिय का पृथक् धर्म है, वह भी तुझ से कहता हूं, सुनो हे राजन् क्षत्रिय दान करे, परन्तु किसी से मांगे नहीं, यज्ञ करे, पर याजकता न करे ॥ ७ ॥ अध्ययन करे, पर अध्यापन वृत्ति न करे, तथा प्रजाओं का पालन करे, डाकुओं के वध में सदा तत्पर रहे, और रण में पराक्रम प्रकाशित करे ॥ ८ ॥ वैश्य दान, वेदाध्ययन, और नेक कमाई से धन का संचय करे और सावधान हो कर पिता की भांति सब प्रकार के पशुओं का पालन करे ॥ ९ ॥ शूद्र क्रम से इन तीनों वर्णों की सेवा करे, और सब वर्णों को चाहिये कि शूद्र का भरण पोषण अवश्य करें ॥ १० ॥

मूल—वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमं । ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतं ॥ ११ ॥ सदारोवाप्यदारोवा आत्मवान् संयतेन्द्रियः । वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥ १२ ॥ तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित् । ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्य क्षरसात्मतां ॥ १३ ॥ चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशांपते । भैक्ष्यचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ १४ ॥ सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथार्थश्च रतिः स्वदारैः । निषेवितव्यानि सुखानि लोके ह्यस्मिन् परे चैव मतं ममैतत् ॥ १५ ॥ भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा । वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १६ ॥ ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी । परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन् वसेत्सदा ॥१७॥ सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति । सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणं ॥ १८ ॥

मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः। सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे ॥ १९ ॥ नष्टाः धर्माः शतधा शाश्वतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः। युगे युगे ह्यादि धर्माः प्रवृत्ता लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति ॥ २० ॥ एवं वीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः क्षात्रः श्रेष्ठः सर्व धर्मेषु धर्मः। पाल्यो युष्माभिर्लोक हितै रुदारैर्विपर्यये स्यादभवः प्रजानां ॥ २१ ॥ सागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति सर्व श्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः। नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥ २२ ॥ एते धर्माः सर्व वर्णेषु लीना उत्कृष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः। तस्माज्ज्येष्ठा राज धर्मा न चान्ये वीरज्येष्ठा वीर धर्मा मता मे ॥ २३ ॥

अर्थ—ब्रह्मचर्य, महाश्रम गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन में से चौथा ब्राह्मणों से स्वीकार किया गया है ॥११॥ शुद्ध-हृदय संयमी हो कर पत्नी समेत अकेला गृहाश्रम से कृतकृत्य हो कर वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करे ॥ १२ ॥ वहां वह धर्म का जानने वाला आरण्यक शास्त्रों को पढ़ कर ऊर्ध्वरेता वन संन्यास ले कर मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ हे नरेश ! केवल ब्रह्मचर्य कर लेने पर मोक्षकाम ब्राह्मण को संन्यास में अधिकार है ॥ १४ ॥ (गृहस्थ को) सचाई, सरलता, धर्म, अर्थ और अपनी पत्नी से प्रीति, तथा लोक परलोक के सुख साधन सेवनीय हैं, यह मेरा मत है ॥ १५ ॥ पुत्रों का और पत्नी का भरण पोषण और वेदों का धारण, यह श्रेष्ठ आश्रम (गृहाश्रम) में वास करने वालों के परमर्षि बतलाते हैं ॥ १६ ॥ ब्रह्मचारी सदा व्रत और दीक्षा को धारण करे वशी हो, सेवा कर के वेद पढ़ता हुआ और धर्म कार्य करता हुआ गुरु के निकट वास करे ॥१७॥

सारे धर्मों में प्रधान राजधर्म है, सारे वर्ण रक्षा करने पर बने रहते हैं, हे राजन् ! राजधर्म में पूरा त्याग है, त्याग को ही सर्व श्रेष्ठ सनातन धर्म कहते हैं ॥ १८ ॥ दण्डनीति के नष्ट होने पर वेद-त्रयी डूब जाए, बढ़े हुए सारे धर्म क्षीण होजाएं, आश्रमों के सब धर्म नष्ट होजाएं, यदि सनातन क्षात्रधर्म का त्याग होजाए ॥१९॥ वे सनातनधर्म सैंकड़ों वार नष्ट होचुके हैं, क्षात्रधर्म से ही उन का फिर २ उद्धार होता रहा है, युग युग में वे ही आदिधर्म फिर प्रवृत्त हुए हैं, क्षात्रधर्म को लोक में सब से बड़ा कहते हैं ॥ २० ॥ ऐसे सामर्थ्य वाला सारे धर्मों का रक्षक क्षात्र धर्म जो सारे धर्मों में श्रेष्ठ है, उस का तुम, लोगों की भलाई चाहते हुए उदार बन कर पालन करो, त्यागने में सारी प्रजाओं का नाश होगा ॥२०॥ मुनिजन त्याग को श्रेष्ठ मानते हैं, और यह प्रत्यक्ष है, कि जैसे राजा राजधर्मों में सावधान हुए सब से श्रेष्ठ शरीर का त्याग करते हैं ॥ २२ ॥ ये धर्म जब सारे वर्णों में लीन हो जाते हैं, तब उन को फिर ऊंचाई पर पहुंचाना क्षत्रियों का धर्म है, इस कारण राजधर्म ज्येष्ठ हैं न कि दूसरे, अतएव वीरधर्मों को ही सब से बड़ा मानता हूं ॥ २३ ॥

अ० ९ (व० ६७-७१) देश रक्षा प्रकार

मूल—युधिष्ठिर उवाच—चातुराश्रम्य मुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च । राष्ट्रस्य यत्कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच—राष्ट्रस्यै तत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनं । अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभि भवन्त्युत ॥ २ ॥ अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते । परस्परं च खादन्ति सर्वथाधिगराजकं ॥ ३ ॥

म्रियेते हि हरन् पापः परवित्तमराजके। यदास्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ ४ ॥ पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन। एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥ ५ ॥ वधबन्ध परिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत्। ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ ६ ॥ अन्ताश्चाकाल एवस्युर्लोकोऽयं दस्यु साद्भवेत्। पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥ ७ ॥ हस्ताद्धस्तं परिमुषेद् भिद्येरन् सर्वसेतवः। भयार्तं विद्रवेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ ८ ॥ विवृत्य हि यथा कामं गृहद्वाराणि शेरते। मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्ताद कुतोभयाः ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच— कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः। कथं चारान् प्रयुञ्जीत वर्णान् विश्वासयेत्कथं ॥ १० ॥ भी० उ० आत्माजेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः।जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन्॥११॥ न्यसेत गुल्मान् दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन। नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव हि ॥ १२ ॥ प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्। पुंसः परीक्षितान् प्राज्ञान् क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥१३॥ यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते। चारांश्च विद्यात् प्रहितान् परेण भरतर्षभ ॥ १४ ॥ गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्चये। संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥ १५ ॥ आददीत बलिंचापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन। स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभि गुप्तये ॥ १६ ॥ यथा पुत्रास्तथा पौरा द्रष्टव्यास्ते न संशयः। भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ १७ ॥ श्रोतुं चैव न्यसेद्राजा प्राज्ञान् सर्वार्थ दर्शिनः। व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितं ॥ १८ ॥ आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा। न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान् हितान् ॥ १९ ॥

राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोधमे। आत्माऽमात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥ २० ॥ तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ॥ २१ ॥ चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसंकरे । दण्डनीति कृते क्षेमे प्रजानाम कुतोभये ॥ २२ ॥ योहि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः । एवं राष्ट्र मुपायेन भुञ्जानो लभते फलं ॥ २४ ॥ पर चक्राभियानेन यदि तेस्याद्धनक्षयः । अथ साम्नैव लिप्सेथा धनम ब्राह्मणेषु यत ॥ २५ ॥

अर्थ--युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! आपने चारों आश्रम और चारों वर्ण कहे हैं, अब जो राष्ट्र का सब से बढ़ कर काम है, वह कहिये ॥ १ ॥ भीष्म बोले—राष्ट्र का सब से बढ़ कर काम राजा का अभिषेक करना है, क्योंकि बिना राजा और बिना बल के राष्ट्र को दस्यु दबा लेते हैं ॥ २ ॥ बिना राजा के राष्ट्रों में धर्म की व्यवस्था नहीं रहती, आपस में एक दूसरे को खाने लग जाते हैं, अराजक देश को सर्वथा धिक्कार है ॥ ३ ॥ अराजक देश में पापी पुरुष पराये धन को छीनता हुआ प्रसन्न होता है, पर जब इस के धन को और छीनते हैं, तब राजा को चाहता है ॥ ४ ॥ तब पापी भी कोई कुशल नहीं पाते, एक को दो छीन सकते हैं, दो को बहुते ॥ ५ ॥ यदि राजा रक्षा न करे, तो धनवानों को नित्य वध बन्ध का कष्ट बना रहे, और अपने धन पर 'मेरा है' किसी को विश्वास न रहे ॥ ६ ॥ बिना काल के मृत्यु हों, यह सारा जगत् दस्युओं के अधीन हो जाए, सब घोर नरक में गिरें, यदि राजा पालन करे ॥ ७ ॥ हाथ से हाथ के धन को छीन लें, सारी मर्यादाएं टूट जाएं, सब भय से पीड़ित होकर भाग निकलें, यदि राजा रक्षा न करे ॥ ८ ॥ राजा से

रक्षा किये पुरुष चारों ओर से निर्भय हो कर घर के द्वार खुले छोड़ कर निःशंक सोते हैं ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर बोले—राजा किस प्रकार देश की रक्षा करे, किस प्रकार शत्रुओं को जीते, किस प्रकार गुप्तचरों को काम पर लगाए और किस प्रकार सारे वर्णों को अपने ऊपर विश्वासी बनाए ॥ १० ॥ भीष्म बोले—राजा को सदा पहले अपना आप जीतना चाहिये, पीछे शत्रुओं को जीते, जितेन्द्रिय राजा शत्रुओं को बाध सकता है ॥ ११ ॥ हे कुरुनन्दन दुर्गों में, देश के सन्धि स्थानों में, नगर के उपवनों में और पुर के उद्यानों में गुल्म (चौकियां) स्थापन करे॥१२॥ भूख प्यास और थकावट के सहारने वाले पुरुषों को गुप्तचर बनाए, जो जड़ अन्धे और बहिरे का स्वांग भरसकें ॥ १३ ॥ ऐसी सावधानी से उन को काम पर लगाए, कि वे आपस में एक दूसरे को न जान सकें, और जो शत्रुने गुप्तचर लगाए हों, उन को जाने ॥ १४ ॥ राष्ट्र का धर्मानुसार पालन करता हुआ राजा गुणी, उत्साही, धर्मज्ञ, भले राजों के साथ सन्धि कर के ॥ १५ ॥ हे कुरुनन्दन ! राजा प्रजा से उन्हीं की रक्षा के लिए (उपज का) छटा भाग कर लेवे ॥ १६ ॥ पुत्रों के समान तुझे सारे पुरवासी देखने चाहियें, इस में संशय नहीं, पर व्यवहार (मुकद्दमों) में इन पर स्नेह न करना (स्नेह से न्याय न त्यागना)॥ १७ ॥ राजा को चाहिये, कि व्यवहारों के सुनने के लिए सर्वदर्शी बुद्धिमानों को नियुक्त करे, ऐसों पर राज्य का का निर्भर है ॥ १८ ॥ (धातों की) कानों में लवण की कानों में मंडियों में नदी से पार उतारने की आमदनी पर, हाथियों के

पकड़ने में राजा अपने अमात्य वा हितैषी आप्त पुरुषों को नियुक्त करे ॥ १९॥ राजा को इन सात की रक्षा करनी चाहिये; सावधानता से सुनो, अपनी, मन्त्रियों की, कोशों की, सेनाओं की, मित्रों की, देश की और राजधानी की ॥२०—२१॥ चारों वर्ण अपने २ कर्म में स्थित हों, मर्यादाओं में गड़मड़ न हो, दण्ड नीति ठीक चल रही हो, प्रजाओं को कहीं से भय न हो, तब तीनों वर्ण धन की वृद्धि में यत्न करते हैं ॥ २२—२३॥ जो दुधारू धेनु का सेवन करता है, वह दूध प्राप्त करता है, इस प्रकार उपाय से राष्ट्र का उपभोग करता हुआ फल पाता है ॥ २४ ॥ शत्रु पर चढ़ाई करने से यदि तुझे धन का टोटा आजाए, तो सहते २ कर लगाओ, वह भी ब्राह्मणों पर नहीं ॥२५॥

अ० १० (व० ७३-७५) पुरोहित की आवश्यकता

मूल—राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद्विद्वान् बहुश्रुतः । उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरं ॥ १ ॥ परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ । ब्रह्मक्षत्रस्य संमानात् प्रजा सुखमवाप्नुयात् ॥ २ ॥ विमाननात् तयोरेव प्रजा नश्येयुरेवहि । ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां वर्णानां मूल मुच्यते ॥ ३ ॥ एतौ हि नित्यं संयुक्तौ वितरेतर धारणे । क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजाः ॥ ४ ॥ उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ संप्रापतुर्महतीं संप्रतिष्ठां । तयोः सन्धिर्भिद्यते चेत्पुराणस्ततः सर्वं भवति हि संप्रमूढं ॥ ५ ॥ ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयंभुवा । पृथग्बलविधानं तन्न लोकं परिपालयेत् ॥ ६ ॥ तपो मन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितं । अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितं ॥ ७ ॥ ताभ्यां संभूय कर्तव्यं

प्रजानां परिपालनं ॥ ८ ॥ सर्वांश्चैव प्रजानित्यं राजा धर्मेणपालयन् । उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥ ९ ॥ राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते । यद्यदा चरते राजा तत्प्रजानां स्म रोचते ॥ १० ॥ नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु । निहन्यात् सर्वतो दस्यून्न कामात्कस्यचित् क्षमेत् ॥ ११ ॥ यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः । चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ १२ ॥ यद्राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद्राज्ञोऽरक्षयतः प्रजाः । चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ १३ ॥ प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद्धनं चोरैर्हृतं यदि । तत्स्वकोशात्प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवितः ॥ १४ ॥ काले धुरि च युक्तानां वहतां भारमाहितं । सीदतामपि कौन्तेय न कीर्तिरवसीदति ॥ १५ ॥

अर्थ—धर्म और अर्थ बड़े गहन हैं, ऐसा जान कर राजा को बहुत शीघ्र बहुश्रुत विद्वान् पुरोहित बनाना चाहिये ॥ १ ॥ वे राजा और पुरोहित दोनों एकचित्त एक दूसरे के सुहृद हों।ब्रह्म और क्षत्र (दोनों प्रकार के बल) के संमान से प्रजा सुख पाती है ॥ २ ॥ इन दोनों बलों का अनादर कर देने से प्रजाएं नष्ट होजाती हैं, ब्रह्म और क्षत्र ही सब वर्णों का मूल कहा जाता है ॥ ३ ॥ ये दोनों साथी हो कर एक दूसरे के धारने में समर्थ होते हैं, क्षत्र ब्रह्म का मूल है, और ब्रह्म क्षत्र का मूल है ॥ ४ ॥ ये दोनों सदा एक दूसरे के रक्षक बन कर बड़ी प्रतिष्ठा पाते रहे हैं, उन का यदि पुराना सम्बन्ध टूट जाए, तब सब कुछ उलट पलट होजाता है ॥ ५ ॥ परमात्मा ने ब्रह्म और क्षत्र को एक मूल से बनाया है, ये अपने बल के प्रयोग को एक दूसरे से अलग करके लोक की रक्षा नहीं करसकते ॥ ६ ॥ तप और

वेद का बल सदा ब्राह्मणों में स्थित रहता है, अस्त्र और भुजाओं का बल सदा क्षत्रियों में स्थित रहता है ॥ ७ ॥ उन दोनों को एक होकर प्रजा की रक्षा करनी चाहिये ॥८॥ राजा जिस धर्म से सारी प्रजाओं का पालन करता हुआ उठने (बढ़ने) से और दान से धार्मिकों का सदा पूजन करे ॥ ९ ॥ राजा से पूजा हुआ धर्म सर्वत्र पूजा जाता है, राजा जो २ आचरण करता है, प्रजाएं उस को पसंद करती हैं ॥ १० ॥ शत्रुओं पर यमराज की भांति सदा दण्ड उग्र रहे, चारों ओर से दस्युओं का हनन करे, कामना से किसी पर क्षमा न करे ॥ ११ ॥ राजा से रक्षा की हुई प्रजाएं जो धर्म करती हैं, उस का चौथा भाग राजा पाता है ॥ १२ ॥ और प्रजा की रक्षा न करने से जो पाप फैलता है, उस के भी चौथे भाग का राजा भागी होता है ॥ १३ ॥ राजा यदि उस धन को जो लुटेरे लूट ले गए हों, लौटा न सके, तब उस को वह अपने कोश से भर देना चाहिये, जब कि असमर्थ हो कर उन से कर लेता है ॥ १४ ॥ हां ठीक समय पर जो धुरा में जुत गए हैं, और डाले भार को उठा लिया है (अपनी जुम्मेदारी पूरी करदी है) ऐसे फिसलने वालों का भी यश नहीं फिसलता है ॥ १५ ॥

अ० ११ (व० ८०-८२) मित्र मन्त्री और ज्ञाति

मूल—चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन् भवन्त्युत । सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥ १ ॥ चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शंक्यौ तथापरौ ॥ २ ॥ असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः । अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥३॥

एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः । अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ ४ ॥ तस्माद्विश्वसितव्यं च शंकितव्यं च केषुचित् । एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥ ५ ॥ यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमं स्पृशेत् । नित्यं तस्माच्छंकितव्य मामित्रं तद्विदुर्बुधाः ॥ ६ ॥ यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति । तस्मिन् कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥ ७ ॥ व्यसनान्नित्यं भीतो यः समृध्या यो न दुष्यति । यत्स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसम मुच्यते ॥ ८ ॥ कीर्तिप्रधानो यस्तु स्याद्यश्च स्यात्समये स्थितः । समर्थान् यश्च न द्वेष्टि नानर्थान् कुरुते च यः ॥ ९ ॥ यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद्वा धर्म मुत्सृजेत् । दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात् प्रत्यनन्तरः॥१०॥ कुलीनः शील संपन्नस्तितिक्षुर विकत्थनः । शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्ति विशारदः ॥ ११ ॥ एतेह्यमात्याः कर्तव्या सर्वकर्मस्ववस्थिताः । पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः ॥ १२॥ कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्मसु । युक्ता महत्सु कार्येषु श्रेयांस्युत्थापयन्त्युत ॥ १३ ॥ एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्धमाना मिथः सदा । अनुतिष्ठन्ति चैवार्थं माचक्षाणा परस्परं ॥ १४ ॥ निकृतस्य परैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणं । नान्यो निकारं सहते ज्ञातिर्ज्ञातेः कथञ्चन ॥ १५ ॥ संमानयेत्पूज येच्च वाचा नित्यं च कर्मणा । कुर्याच्च प्रिय मेतेभ्यो नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ १६ ॥ नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् । महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ १७ ॥

अर्थ—हे राजन् राजाओं के चार प्रकार के मित्र होते हैं एक प्रयोजन वाला, बड़ों से मित्र चला आता, स्वाभाविक

(मसेरा भाई आदि) और कृत्रिम(लालच दे कर बनाया हुआ) ॥ १ ॥ इन में से मध्य के दो श्रेष्ठ हैं, दूसरे दो सदा शंका वाले होते हैं ॥ २ ॥ लोक में असाधु भी साधु हो जाता है, साधु भी कठोर होजाता है, शत्रु भी मित्र हो जाता है, और मित्र भी बिगड़ जाता है ॥ ३ ॥ इस लिए निरा विश्वास भी धर्म अर्थ का नाशक होता है, और सर्वत्र अविश्वास भी मृत्यु से बढ़ कर है ॥ ४ ॥ इस लिए विश्वास भी और कइयों पर शंका भी करनी चाहिये, हे तात ! यह सनातन नीति की गति सदा ध्यान रक्खो ॥ ५ ॥ जिस को समझे, कि मेरे नाश से इस को मेरा अर्थ (राज्य कोष आदि) मिलेगा, उस से सदा शंका करनी चाहिये, उस को बुधजन शत्रु कहते हैं ॥ ६ ॥ और जिस को समझे, कि मेरे नाश से इस का भी नाश हो जाएगा, उस पर सदा विश्वास रक्खे जैसे पिता पर होता है ॥ ७ ॥ जो व्यसन से सदा डरता है, समृद्धि पाकर बिगड़ता नहीं, जो इस प्रकार का मित्र है,उस को आत्मसम कहते हैं ॥ ८ ॥ जो पुरुष कीर्तिप्रधान हो,मर्यादा पर चलने वाला हो, समर्थों से द्वेष न करे, और जो अनर्थ न उठाता रहे ॥ ९ ॥ जो न काम से न लोभ से न भय से न क्रोध से धर्म को त्यागे, दक्ष हो और पूरी तुली हुई बात कहने वाला हो वह तेरा प्रतिनिधि हो ॥ १० ॥ कुलीन शीलवान्, सहिष्णु, अपनी श्लाघा न करने वाला, शूर आर्य विद्वान् झटपट उत्तर देने में निपुण ॥ ११ ॥ सब कर्मों में सावधान उत्तम साथियों वाले अनुभवी मन्त्री बनाने चाहिये उन का मान करे और उन से बांट कर खाए ॥ १२ ॥ ऐसे मन्त्री अपने २ योग्य कर्मों में लगाए हुए बड़े २ कार्यों में बड़े २ फल उत्पन्न करते हैं ॥१३ ॥

ये काम में एक दूसरे से बढने की चेष्टा करते हैं, और आपस में बत-लाकर हित का अनुष्ठान करते हैं॥१४॥दूसरों से अनादर पाने पर अपनी ज्ञाति ही सहारा हुआ करती है, ज्ञातिजन अपने ज्ञातिजन का दूसरों से अनादर नहीं सह सकता ॥ १५ ॥ इस लिए इनका वाणी से और कर्म से सदा मान करे और पूजा करे, और इन का प्रिय करे, कोई अप्रिय न करे ॥ १६ ॥ जो महापुरुष नहीं, जो जितेन्द्रिय नहीं, जो साथियों वाला नहीं, वह बड़ी धुरा को नहीं उठा सकता,तुम उस धुरा को अपनी छाती के बल से उठा कर ले चलो ॥ १७ ॥

अ० १२ (व० ८३–९४) राज्य प्रबन्ध

मूल—ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जव समन्विताः॥शक्ताः कथयितुं सम्यक्ते तव स्युः सभासदः ॥ १ ॥ अमात्यांश्चाति शू-रांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् । सुसंतुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु ॥ २ ॥ एतान् सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत ॥३॥ कुलीना देशजा प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः । प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः ॥ ४ ॥ दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः । ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रक पाणयः ॥ ५ ॥ यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभि भाषते । स्मितपूर्वाभि भाषी च तस्य लोकः प्रसीदति ॥ ६ ॥ दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनानभिजल्पितं । न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जन मिवाशनं ॥ ७ ॥ आदानादपि भू-तानां मधुरामीरयन् गिरं । सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे ॥ ८ ॥ तस्मात्सान्त्वं प्रयोक्तव्यं दण्डमाधित्सतापि हि । फलं च जनयत्येवं न चास्यो द्विजते जनः ॥ ९ ॥ अपराधानुरूपं च

दण्डं पापेषु कारयेत् । वियोजयेद्धनैर्ऋद्धान् धनानथ बन्धनैः॥१०॥
कायकारेण दण्डस्तु यः कुर्याद् विचक्षणः । स इहाकीर्ति संयुक्तो
मृतो नरक मृच्छति ॥ ११ ॥ न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्यां
चिदापदि । दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह ॥ १२ ॥
कुलीनः कुलसंपन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः । यथोक्तवादी स्मृति-
मान् दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥ १३ ॥ एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहा-
रोऽस्य रक्षिता । शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥१४ ॥
धर्मशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञः सन्धिविग्रहिको भवेत् । एतैरेव गुणैर्युक्त-
स्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥ १५ ॥ व्यूह यन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो
विक्रमान्वितः । वर्षशीतोष्ण वातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित्॥१६॥
चारान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः । अनुतिष्ठेत्स्वयं राजा
सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितं ॥ १७ ॥ दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविष-
स्य च । अविषह्यतमं मन्ये मास्म दुर्बलमासदः ॥ १८ ॥ यत्रा-
बलो बध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति । महान् दैवकृतस्तत्र दण्डः
पतति दारुणः ॥ १९ ॥ युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा
इव । अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥ २० ॥ राज्ञो
यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः । अनयेनोपवर्तन्ते तद्राज्ञः कि-
ल्बिषं महत् ॥ २१ ॥ संविभज्य यदा भुङ्क्ते नापात्यानवमन्यते।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ २२ ॥ संविभज्य
यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान्नरान् । तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो
धर्म उच्यते ॥ २३ ॥ यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति ।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ २४ ॥ न कामाच्च न
संरम्भान्न द्वेषाद्धर्म मुत्सृजेत । नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं
सृजेत ॥ २५ ॥

अर्थ—ह्रीमान्, जितेन्द्रिय, सचाई और सरलता से युक्त, शात करने में समर्थ पुरुष तेरे सभासद हों ॥ १ ॥ मन्त्री, बड़े२ सूरमे, बहुश्रुत ब्राह्मण, ये जो पूरे संतोष वाले और अपने कर्मों में बड़े उत्साही हों, हे भारत ! ऐसे साथी सारी आपत्तियों में काम आते हैं ॥ २—३ ॥ कुलीन, अपने देश के, रूप वाले, बहुश्रुत, प्रगल्भ और अनुराग वाले तेरे निज के नौकर हों ॥४॥ जो नीच कुल के हैं, लालची, दुर्जन, और निर्लज्ज हैं, हे तात ! वह तेरी तभी तक सेवा करेंगे, जब तक उन का हाथ तर रहेगा ॥ ५ ॥ जो हरएक को देख कर पहले उस से बोलता है, और हंसता हुआ बात करता है, उस पर सारे लोग प्रसन्न होते हैं ॥ ६ ॥ दान भी जब प्रेम वचन से न दिया गया हो, तो लोगों को तृप्त नहीं करता है, जैसे व्यञ्जन से रहित भोजन ॥ ७ ॥ ले कर भी मीठी वाणी बोल कर इस सारे जगत् को हे नरेन्द्र वश में करता है ॥ ८ ॥ इस लिए दण्ड देते समय प्रीतिकर वचन बोलना चाहिये, ऐसा वचन फल देता है, और लोग उस से उद्विग्न नहीं होते हैं ॥ ९ ॥ अपराध के अनुरूप दण्ड अपराधियों को देवे, धनाढ्यों को धनों से हीन करे और निर्धनों को कैद करे ॥ १० ॥ जो मूर्ख अपनी इच्छा से दण्ड देता है, वह यहां अपयश पाता है और मर कर नरक को जाता है ॥ ११ ॥ राजा दूत को किसी भी आपदा में न मारे, दूत का मारने वाला अपने मन्त्रियों समेत नरक में पड़ता है ॥ १२ ॥ कुलीन, कुलीनों से सम्बन्ध वाला, उत्तम बोलने वाला, होश्यार, प्रिय बोलने वाला, जैसे कहा हो, वैसा बतलाने वाला, स्मृतिमान् इन सात गुणों से युक्त दूत हो ॥ १३ ॥ इन्हीं गुणों से युक्त द्वारपाल हो,

और इन्हीं गुणों से युक्त सिर का रक्षक हो ॥ १४ ॥ धर्मशास्त्र के तत्त्व का जानने वाला सन्धिविग्रह के अधिकार में हो, इन्हीं गुणों से युक्त सेनापति हो ॥ १५ ॥ पर जो साथ ही व्यूह, यन्त्र और शस्त्रों का तत्त्वज्ञ हो, पराक्रम वाला हो, वर्षा शीत उष्ण और आंधियों का सहिष्णु हो, शत्रु के छिद्र को समझने वाला हो ॥ १६ ॥ गुप्तचर, मन्त्र, कोश और विशेषतः दण्ड, ये राजा स्वयं बर्ते, इन पर राज्य का निर्भर है ॥ १७ ॥ दुर्बल की, मुनि की और सांप की दृष्टि सब से बढ़ कर असह्य होती है, इस लिए दुर्बल को कभी पीड़ा न देना ॥ १८ ॥ जहां मारा जाते दुर्बल का कोई बचाने वाला नहीं है, वहां दैव का भारी दण्ड गिरता है ॥ १९ ॥ जब देश के लोग ब्राह्मणों के समान बार २ भीख मांगने तक तंग आजावें, तो वे राजा को मार डालते हैं ॥ २० ॥ राजा के राष्ट्र में जब बहुत से राजपुरुष अनीति पर चलते हैं, तो वह राजा का भारी पाप है ॥ २१ ॥ जब राजा बांट कर खाता है, मन्त्रियों का अपमान नहीं करता है, ऊंचे आए बली को दबाता है, तब राजा का धर्म कहा जाता है ॥ २२ ॥ जब राजा दुर्बलों में बांट कर खाता है, और इस प्रकार वे बल वाले बन जाते हैं, तब वह राजा का धर्म कहा जाता है ॥ २३ ॥ जब देश की रक्षा करता है, दस्युओं को दूर करता है, और रण में विजय पाता है, तब राजा का धर्म कहा जाता है ॥ २४ ॥ न काम से न क्रोध से न द्वेष से धर्म का त्याग करे, प्रश्नों में लज्जा न करे और न अपमान का शब्द बोले ॥ २५ ॥

अ० १३ (व० ९५-१००) युद्ध धर्म

मूल-यु० उ० अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत् । कथं

संप्रति योद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भीष्म उवाच—स
चेन्निकृत्या युध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत । अथचेद्धर्मतो युध्येद्ध-
र्मेणैव निवारयेत ॥ २ ॥ भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृतज्यो हतवाहनः ।
चिकित्स्यः स्यात्स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत ॥ ३ ॥ वि-
शीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनं । कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं
गृहीत्वा न विहिंसयेत ॥ ४ ॥ नार्वाक् संवत्सरात्कन्या प्रष्टव्या
विक्रमाहृता । एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत् सहसा हृतं ॥ ५ ॥
अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद् ब्राह्मणोऽन्तरा । शान्तिमिच्छन्नु
भयतो न योद्धव्यं तदा भवेत ॥ ६ ॥ सर्वविद्यातिरेकेण जय
मिच्छन्महीपतिः । न मायया न दम्भेन य इच्छेद्भूति मात्मनः॥७॥
मा स्म तांस्ता दृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान् । ये सहायान् रणे
हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान्ययुः ॥ ८ ॥ न गृहे मरणं तात क्षत्रि-
याणां प्रशस्यते । शौटीराणा मशौटीर्यमधर्म्यं कृपणं च तत् ॥ ९ ॥
रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः । तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः
क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥ १० ॥ शूरो हि काममन्युभ्या माविष्टो यु-
ध्यते भृशं । हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ ११ ॥
यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवारितः । अक्षयाँल्लभते लोकान्
यदि दैन्यं न सेवते ॥ १२ ॥ आहवे तु हतं शूरं न शोचेत कथ-
ञ्चन । अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ॥ १३ ॥ शूर
बाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत्सदा । न हि शौर्यात्परं किञ्चि
त्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ १४ ॥ उभे पक्षे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च
भारत । जानन्वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागतां ॥ १५ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! जो क्षत्रिय क्षत्रिय पर
चढ़ाई करे, तो कैसे उस के साथ युद्ध करना चाहिये, यह मुझे

बतलाएं ॥ १ ॥ भीष्म बोले—यदि वह छल से युद्ध करे, तो आप भी उस के साथ छल युद्ध करे, पर यदि वह धर्मयुद्ध करे, तो धर्म से उस को रोके ॥ २ ॥ जिस के शस्त्रास्त्र टूट गए, वाहन मारे गए, और क्षत विक्षत हो कर पकड़ा गया है, उस की अपने देश में चिकित्सा करे, वा उसे अपने घर पहुंचा दे ॥ ३ ॥ जिस का कवच टूट गया, 'मैं तेरा हूं' यह कह रहा है, जो हाथ जोड़े है, जो शस्त्र छोड़े हुए है, उस को पकड़ कर मारे नहीं ॥४॥ युद्ध में पराक्रम से छीनी कन्या को वर्ष से पहले न पूछे, इसी प्रकार धन वा और भी जो कुछ साहस से लाया गया है ॥ ५ ॥ आपस में जुटी हुई दोनों सेनाओं के मध्य में यदि शान्ति की कामना से ब्राह्मण बीच में आ पड़े, तब युद्ध नहीं करना चाहिये ॥ ६ ॥ जो अपनी वृद्धि चाहता है, उस को चाहिये, कि सारी विद्याओं की उन्नति से जय पाना चाहे, छल और दम्भ से नहीं ॥ ७ ॥ हे तात ! ऐसे नीचों का जन्म न होने देना चाहिये, जो साथियों को रण में छोड़ कर अपना बचाव करके घर में चले जावें ॥ ८ ॥ हे तात ! क्षत्रियों का घर में मरना प्रशंसा योग्य नहीं है, यह अभिमानियों के अभिमान का भंग है अधर्म है और कृपण है ॥ ९ ॥ क्षत्रिय तो ज्ञातियों के साथ रण में विनाश मचा कर तीक्ष्ण शस्त्रों से टुकड़े २ हो कर मरने योग्य है ॥ १० ॥ शूर उच्च आकांक्षा और क्रोध से भरा हुआ अतिशय युद्ध करता है, शत्रुओं से अंगों पर आते आघातों को जानता ही नहीं है ॥ ११ ॥ शूर वीर पुरुष शत्रुओं के घेरे में आ कर जहां २ मारा जाता है, वह अक्षय लोकों को प्राप्त होता है, यदि दीन न हुआ हो ॥ १२ ॥ युद्ध में मारे गए शूर का कोई शोक न करे, युद्ध

में मारा हुआ शूर वीर शोक के योग्य नहीं है, वह स्वर्ग में महिमा पाता है ॥ १३ ॥ यह जगत शूर वीर की भुजाओं में पुत्रवत् सहारा पाता है, शौर्य से बढ कर तीनों लोकों में कुछ नहीं है ॥ १४ ॥ हे भारत सरल और टेढ़ी दोनों प्रकार की प्रज्ञा (नीति) जाननी चाहिये, पर जान कर टेढ़ी का स्वयं सेवन न करे, हां (शत्रु से) आई (टेढ़ी नीति) को बाधे ॥ १५ ॥

मूल-यु० उ० यथा गणाः प्रवर्धन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति चायथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव॥१६॥भी० उ० गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम। वैरसंदीपना वेतौ लोभामर्षौ नराधिप॥१७॥ अर्थाश्चैवाधि गम्यन्ते संघातबल पौरुषैः। बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघात वृत्तिषु ॥ १८ ॥ चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च। नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥ द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः। कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणाः संतारयन्ति ते ॥ २० ॥ लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव। गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः ॥ २१ ॥ तेषामन्योन्य भिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठतां। निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः ॥ २२ ॥ कुलेषु कलहा जाता कुलवृद्धै रुपेक्षिताः। गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गण भेदस्य कारकाः॥ २३ ॥ आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयं। आभ्यन्तरं भयं राजन् सद्यो मूलानि कृन्तति ॥ २४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार गण वृद्धि पावें, सुहृदों को प्राप्त हों और आपस में फूटें नहीं, हे पितामह वह मुझे बतलाइये॥ १६ ॥ भीष्म बोले—हे राजन् लोभ और क्रोध गणों के, कुलों के, और राजाओं के वैर चमकाने वाले हैं॥ १७ ॥ संघ के बल और पौरुष

से सारे अर्थ प्राप्त होते हैं, मिल कर रहने वालों से बेगाने भी मित्रता करते हैं ॥ १८ ॥ गुप्तचरों के और मन्त्र के प्रयोग में और कोश के संचय में लगाए हुए गण सब ओर से बढ़ते हैं ॥ १९ ॥ द्रव्य वाले, शूरवीर, शस्त्रों के जानने वाले शास्त्रों के पार पहुंचे हुए गण ही घबराए हुओं को कठिन आपदाओं में तारते हैं ॥ २० ॥ हे राजन् ! बहुतसी लोकयात्रा गणों के अधीन है, गणों के मुखियों के साथ मिल कर सदा गणों का हित सोचना और करना चाहिये ॥ २१ ॥ जब वे आपस में फूट कर अपनी शक्ति एक दूसरे को दिखलाने लगें, तो झट उन के मुखियों के द्वारा उन का निग्रह करे ॥ २२ ॥ कुलों में उत्पन्न हुए कलह, जो गणों को फोड़ देने वाले होते हैं, उन की जो वृद्ध उपेक्षा करते हैं, वे कुल का नाश करते हैं ॥ २३ ॥ अन्दर के भय से बचना चाहिये, बाहर का भय कोई भय नहीं है, अन्दर का भय हे राजन् तुरत जड़ों को उखाड़ देता है ॥ २४ ॥

अ० १४ (त्र० १०८-१३०) धर्म

मूल—युधिष्ठिर उवाच–किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतं । यथाहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयां ॥ १ ॥ भीष्म उवाच–माता पित्रोर्गुरूणां च पूजा बहु मता मम । इह युक्तो नरो लोकान् यशश्च महदश्नुते ॥ २ ॥ सर्वे तस्या दृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः । अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ ३ ॥ सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परं । यत्तु लोकेषु विज्ञानं तत्प्रवक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥ भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् । सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ५ ॥

येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्यचित् । तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ ६ ॥ अकूजने न चेन्मोक्षः शंकेरन्नाप्यकूजनात् । श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितं ॥७॥ यस्मिन् यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्त्तितव्यं स धर्मः । मायाचारो म यया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥८॥ युधिष्ठिर उवाच—क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः । दुर्गाण्यति तरेद्येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ९ ॥ आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः । वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यति तरन्ति ते ॥ १० ॥ स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्ति मृतावृतौ । ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेप्युपस्थिते ॥ ११ ॥ कर्माण्य कुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः । पराश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः॥१२॥ ये न मानित्व मिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान् । ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान् संशमयन्ति च ॥ १३ ॥ यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनं । वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यति तरन्ति ते ॥ १४ ॥ ईश्वरं सर्व भूतानां जगतः प्रभवाप्ययं । भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यति तरन्ति ते ॥ १५ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—सारे धर्मों में से कौन धर्म आप को गुरुतर अभिमत है, ताकि मैं लोक परलोक में परम धर्म को प्राप्त होऊं॥१॥भीष्म बोले-पिता माता और गुरु की पूजा मुझे बहुमत है, इस कर्म में युक्त पुरुष स्वर्ग को और (लोक में) बड़े यश को पाता है ॥ २॥ जिसने इन तीनों का आदर किया, उस ने तीनों लोकों का आदर किया, और जिसने इन तीनों का अनादर किया, उस के सारे कर्म निष्फल जाते हैं ॥ ३ ॥ सत्य कहना ही उत्तम है, सत्य से श्रेष्ठ कुछ नहीं, परलोक में जो बात दुर्ज्ञेय है,

वह कहता हूं, सुनो ॥ ४ ॥ किसी समय सत्य कहना उचित नहीं होता, झूठ कहना उचित होता है, झूठ और सत्य के अवसर का निश्चय करके ही पुरुष धर्म का जानने वाला होता है ॥ ५ ॥ जो अन्याय से किसी का धन हरना चाहते हैं, उन को वह नहीं बतलाना चाहिये, यही धर्म है, यही निश्चय है ॥ ६ ॥ यदि न बतलाने से अपना छुटकारा न हो, वा न बतलाने से शंका करें, तो वहां झूठ कह देना सत्य से बढ़ कर है यह निश्चय है ॥ ७ ॥ जो मनुष्य जिस के साथ जैसा बर्ताव करे, उस के साथ वैसा ही बर्ते, यह धर्म है, छली को छल से मारे, और शुद्ध पुरुष के साथ धर्म बर्ताव ही करे ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर बोले—उन २ स्वभावों से (सब प्रकार के स्वभावों से) लोक में क्लेश आता ही है, जिस से पुरुष कठिनाइयों से पार हो, वह मुझे उपदेश दीजिये॥ ९ ॥ भीष्म बोले—जो द्विज अपने ४ आश्रमों में यथाशास्त्र चलते हैं, और मन को वस में रखते हैं, वे कठिनाइयों के पार होजाते हैं ॥ १० ॥ जो ऋतु २ में यथाविधि अपनी ही पत्नी के निकट जाते हैं, और जो प्राणसंकट में भी सत्य ही बोलते हैं ॥ ११ ॥ जिन के कर्म छल से हीन हैं, जिन के वचन सत्य और मधुर हैं, जो दूसरे की लक्ष्मी से तप्त नहीं होते, जो पुरुषवर सत्पुरुष हैं ॥ १२ ॥ जो स्वयं मान के लिए काम नहीं करते और दूसरों का मान करते हैं, जो स्वयं क्रोध को रोकते हैं, और क्रुद्ध हुओं को शान्त करते हैं ॥ १३ ॥ जिन का भोजन शरीर यात्रा के लिए है, मैथुन सन्तान के लिए है, वाणी सत्य बोलने के लिए है, वे कठिनाइयों के पार होजाते हैं ॥ १४ ॥ सब जीवों के स्वामी,

जगत् को उत्पन्न और लय करने वाले नारायण देव के जो भक्त हैं, वे कठिनाइयों के पार होजाते हैं ॥ १५ ॥

मूल—युधि० उ० यद्धितं राज्य तन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयं । अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद्ब्रवीहि मे ॥ १६ ॥ भी० उ० यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः । हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्य फल मश्नुते ॥ १७ ॥ मम दुःख सुखा यस्य सहायाः प्रिय कारिणः । अर्थचिन्तापराः सत्याः स राज्य फल मश्नुते ॥ १८ ॥ यस्य नार्तो जनपदः सन्निकर्षं गतः सदा। अक्षुद्रः सत्पथा लम्बी स राजा राज्य भाग्भवेत् ॥ १९ ॥ योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः । इष्वस्त्र कुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ २० ॥ कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि । प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥ २१ ॥ धर्माणामविरोधेन सर्वेषां प्रिय माचरेत् । ममायमिति राजा यः स पर्वत इवाचलः ॥ २२ ॥ अमोघ क्रोध हर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षितुः । आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ २३ ॥ अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा । अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥ २४ ॥ धिक्तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्याऽवसीदति । अवृत्त्यान्य मनुष्योपि यो वैदेशिक इत्यपि ॥ २५ ॥ अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान् भवेत् । सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ॥ २६ ॥ कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययं । तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥ २७ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—जो राज्यतन्त्र के लिए हित कर और कुल के लिए सुखजनक हो, अन्न पान में और शरीर में जो हित कर हो, वह मुझे उपदेश दीजिये ॥ १६ ॥ भीष्म बोले

जिस राजा के भृत्यजन सारे के सारे ज्ञान विज्ञान में निपुण हितैषी कुलीन और स्निग्ध हैं, वह राज्य का फल भोगता है ॥ १७ ॥ जिस के साथी उस के साथ सम दुःख सुख वाले हैं, प्रिय करने वाले, काम संवारने में लगे रहने वाले और सच्चे हैं, वह राज्य का फल भोगता है ॥ १८ ॥ जिस का देश किसी बात से तंग नहीं, सदा अपने साथ सम्बद्ध है, क्षुद्र नहीं और सन्मार्ग में चलता है, वह राजा राज्य भागी होता है ॥ १९ ॥ जिस के योधे रणबांकुरे, कृतज्ञ, शस्त्रास्त्र कुशल हैं, यह पृथिवी उस राजा की है ॥ २० ॥ जो राजा (भृत्यों के) कर्मों का फल चाहता है, उसे चाहिये, कि अपने २ योग्य कर्मों में भृत्यों को लगाए, उलटे पलटे न लगाए ॥ २१ ॥ जो राजा सब धर्मों के अविरोध से, यह मेरी प्रजा है ऐसा मान कर सब लोगों का प्रिय आचरण करता है, वह पर्वत के समान अचल होता है ॥ २२ ॥ जिस का क्रोध और हर्ष वृथा नहीं, जो स्वयं सारे कार्यों को देखता है, और कोश को अपने भरोसे पर रखता है, उस को पृथिवी धन देती है ॥ २३ ॥ मन वाणी और कर्म से किसी के साथ द्रोह न करना, सब पर अनुग्रह करना और दान यह शील उत्तम माना गया है ॥ २४ ॥ उस राजा के जीने को धिक्कार है, जिस का देश अजीविका (बे रोज़गारी) से पीड़ित होता है, चाहे कोई विदेशी भी (वहां रहता) हो ॥ २५ ॥ धन हीन को दुर्बल कहते हैं, धन से बलवान् होता है, धनवान् सब कुछ प्राप्त कर लेता है, कोशवान् सारे संकटों को तर जाता है ॥ २६ ॥ कोश से धर्म, काम, परलोक और यह लोक प्राप्त होता है, पर कोश को धर्म से ही पाना चाहे, अधर्म से कभी नहीं ॥ २७ ॥

अ० १५ (व० १३१-१४०) आपद्धर्म

मूल—युधिष्ठिर उवाच—परचक्राभियातस्य दुर्बलस्य बलीयसा । आपन्नचेतसो ब्रूहि किं कार्यमवशिष्यते ॥ १ ॥ भी०उ० यस्त्वर्थे द्विजिगीषुः स्याद्धर्मार्थकुशलः शुचिः । जवेन सन्धिं कुर्वीत पूर्वभुक्तान्विमोचयेत् ॥ २ ॥ योऽधर्मविजिगीषुः स्याद् बलवान् पापनिश्चयः । आत्मनः सन्निरोधेन सन्धिं तेनापि रोचयेत् ॥ ३ ॥ यास्तु कोशबलत्यागाच्छक्यास्तरितुमापदः । कस्तत्राधिकमात्मानं संत्यजेदर्थधर्मवित् ॥ ४ ॥ क्षिप्रं वा सन्धिकामः स्यात् क्षिप्रं वा तीक्ष्णविक्रमः । तदापनयनं क्षिप्रमेतावत्सांपरायिकं ॥ ५ ॥ अनुरक्तेन चेष्टेन हृष्टेन जगतीपतिः । अल्पेनापि हि सैन्येन महीं जयति भूमिपः ॥ ६ ॥ हतो वा दिवमारोहेद्धत्वा वा क्षितिमावसेत् । युद्धे हि संत्यजन् प्राणान् शक्रस्यैति सलोकतां ॥ ७ ॥ अपचिक्रमिषुः क्षिप्रं साम्ना वा परिसान्त्वयन् । विलंघयित्वा मन्त्रेण ततः स्वयमुपक्रमेत् ॥ ८ ॥ बुभूषेद्बलमेवैतत् सर्वं बलवतो वशे । धूमो वायोरिव वशे बलं धर्मोऽनुवर्तते ॥ ९ ॥ प्रहर्ता मतिमान् शूरः श्रुतवाननृशंसवान् । निषाद्यां क्षत्रियाज्जातः क्षत्रधर्मानुपालकः ॥ १० ॥ कापव्यो नाम नैषादिर्दस्युत्वात्सिद्धिमाप्तवान् । अप्यनेकशतां सेनामेक एव जिगाय सः ॥ ११ ॥ बहूनि च सहस्राणि ग्रामणित्वेऽभिवव्रिरे । निर्मर्यादानि दस्यूनां निरनुक्रोशवर्तिनां ॥ १२ ॥ ग्रामणीर्भव नो मुख्यः सर्वेषामेव संमतः । यथा यथा वक्ष्यसि नः करिष्यामस्तथा तथा ॥ १३ ॥ कापव्य उवाच—मावधीस्त्वं स्त्रियं भीरुं मा शिशुं मा तपस्विनं । नायुध्यमानो हन्तव्यो न च ग्राह्या बलात्स्त्रियः ॥ १४ ॥ ते सर्व-

मेवानुचक्रुः कायव्यस्यानुशासनं । वृद्धिं च लेभिरे सर्वे पापेभ्यश्चाप्युपारमं ॥ १५ ॥ कायव्यः कर्मणा तेन महतीं सिद्धिमाप्तवान् । साधूना माचरन् क्षेमं दस्यून् पापान्निवर्तयन् ॥ १६ ॥ अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्न मतिश्चयः । द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति ॥ १७ ॥ नास्ति जातु रिपुर्नाम मित्रं नाम न विद्यते । सामर्थ्ययोगाज्जायन्ते मित्राणि रिपवस्तथा ॥१८॥ मित्रं च शत्रुतामेति कस्मिंश्चित् काल पर्यये । शत्रुश्च मित्रतामेति स्वार्थो हि बलवत्तरः ॥ १९ ॥ कारणात् प्रियतामेति द्वेष्यो भवति कारणात् । अर्थार्थी जीवलोकोयं न कश्चित् कस्यचित्प्रियः॥२०॥ शत्रुसाधारणे कृत्ये कृत्वा सन्धिं बलीयसा । समागमे चरेद्युक्तो कृतार्थो न च विश्वसेत् ॥ २१ ॥ ऋणशेष माग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च । पुनः पुनः प्रवर्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ॥ २२ ॥ गृध्रदृष्टिर्बकालीनः श्वचेष्टः सिंहविक्रमः । अनुद्विग्नः काकशंकी भुजंगचरितं चरेत् ॥ २३ ॥ पण्डितेन विरुद्धः सन् दूरस्थोस्मीति नाश्वसेत् । दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः॥ २४॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—बलवान् शत्रुदल से दबाए गए दुर्बल विपद्ग्रस्त को क्या करना चाहिये, यह उपदेश दीजिये ॥ १ ॥ भीष्म बोले—बाहर का जो विजिगीषु है, वह यदि धर्म अर्थ में कुशल और शुचि (वचन का सच्चा) हो, तो जल्दी उस के साथ सन्धि कर ले, और यदि कुछ उस ने पहले दबा लिया हो, तो वह छुड़ा लेवे ॥ २ ॥ जो विजिगीषु बलवान् और पाप निश्चय वाला हो, उस के साथ भी हाथ से कुछ दे कर भी सन्धि ही करे ॥ ३ ॥ जिन विपत्तियों में धन के त्याग से पार हो सकते

हैं, कौन धर्म अर्थ के जानने वाला वहां आत्मा का त्याग करे, जो कि अमूल्य है ॥ ४ ॥ ऐसे पुरुष के साथ झट पट ही सन्धि चाहे, नहीं तो झट पट ही तीव्र पराक्रम दिखलाए, इस में इतना ही रहस्य है, कि उस को झट पट दूर करे ॥ ५ ॥ अनुरक्त, चुनी हुई, हृष्ट पुष्ट थोड़ी भी सेना से राजा पृथिवी को जीतता है ॥ ६ ॥ या मर कर स्वर्ग में जाए, या मार कर पृथिवी पर वसे, युद्ध में प्राणों को त्याग कर इन्द्र की सलोकता को प्राप्त होता है ॥ ७ ॥ अथवा आप भाग जाने की इच्छा से उस को मीठी बातों से तसल्ली देता हुआ बच कर निकल जाए, और फिर सोच समझ कर राज्य को वापिस लेने का उद्योग करे ॥ ८ ॥ बल की ही वृद्धि करना चाहे, सब कुछ बलवान् के वस में है, धूम जैसे वायु के वश में होता है, इस प्रकार धर्म बल के अनुसार होता है ॥ ९ ॥ निषादी में से क्षत्रिय का पुत्र क्षत्रधर्म का पालक शस्त्रधारी मतिमान् शूरवीर शास्त्रज्ञ दयावान् कायव्य नाम हुआ है, जो दस्यु बन कर पीछे सिद्धि को प्राप्त हुआ, उस अकेले ने ही कई सैंकड़ों की सेना को जीता था ॥ १०—११ ॥ तब निर्दय बर्ताव करने वाले मर्यादाहीन सहस्रों दस्युओं ने उस को अपना सरदार बनाने के लिए पसन्द किया ॥१२॥ कि आप हम सब के मुखिया सरदार बन कर हमारे अन्दर रहें, जो २ आप हमें आज्ञा देंगे, सो हम करेंगे ॥ १३ ॥ कायव्य बोला—तुम स्त्री को, भीरु, को बच्चे को और तपस्वी को मत मारो, जो सामने लड़ता नहीं है, उस को न मारो, और बलात् स्त्रियों को न ग्रहण करो॥१४॥ उन्होंने कायव्य के अनुशासन को पूर्णतया मान लिया, वे सब

वृद्धि पागए और पापों से बच गए ॥ १५ ॥ कायव्य भी भक्तों को बचाता हुआ और दस्युओं को पाप से बचाता हुआ अपने इस कर्म से महती सिद्धि को प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥ जो आनेवाली विपद् का पहले ध्यान कर लेता है, वा जो समय पर उपाय निकाल लेता है, वे दोनों ही सुख से बढते हैं, दीर्घसूत्री नष्ट हो जाता है ॥ १७ ॥ सदा के लिए न कोई किसी का शत्रु है, न कोई मित्र है, शक्ति के सम्बन्ध से मित्र और शत्रु हुआ करते हैं ॥ १८ ॥ किसी काल के पलटे पर मित्र शत्रु बन जाता है, और शत्रु मित्र बन जाता है, स्वार्थ सब से बढ़ कर बलवान् है॥१९॥ कारण से प्यारा बनता है, कारण से द्वेषी बनता है, दुनिया सारी मतलब की यार है, कोई किसी का प्यारा नहीं ॥ २० ॥ जब शत्रु के सांझे प्रयोजन में बलवान् के साथ सन्धि करे(विपदा में पड़ा हुआ प्रबल शत्रु भी जब सन्धि करे) तो उस समागम में बड़ी युक्ति से रहे, और जब उस का काम निकल जाए, तो फिर उस पर विश्वास न करे ॥ २१ ॥ ऋण, अग्नि और शत्रु बार २ बढ़ जाते हैं, इन का शेष न छोड़े ॥ २२ ॥ गिद्ध की दृष्टि वाला, बगले की भांति ध्यानावस्थित, कुत्ते की नीन्द वाला, शेर के पराक्रम वाला, कभी न घबराने वाला, कौए की भांति शंका वाला और सर्प की चाल वाला हो ॥ २३ ॥ विद्वान् के साथ विरोध कर के मैं दूर हूं, यह तसल्ली न करे, बुद्धिमान् की लंबी भुजाएं होती हैं, जिन से वह मारा हुआ मार देता है॥ २४ ॥

अ० १६५ (व० १४१-१५८)

मूल—केनस्विद्ब्राह्मणो जीवेज्जघन्ये काल आगते । अ-

तितिक्षुः पुत्रपौत्राननुक्रोशान्नराधिप ॥ १ ॥ भीष्म उवाच—
राजमूला महाबाहो योगक्षेम सुवृष्टयः । प्रजासु व्याधयश्चैव मरणं
च भयानि च ॥ २ ॥ तस्मिंस्त्वभ्यागते काले प्रजानां दोष का-
रके । विज्ञान बलमास्थाय जीवितव्यं भवेत्तदा ॥ ३ ॥ येन येन
विशेषेण कर्मणा येन केनचित् । अभ्युज्जीवेत् साद्यमानः समर्थो
धर्म माचरेत् ॥ ४ ॥ यथा यथैव जीवद्धि तत्कर्तव्य महेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्म मवाप्नुयात् ॥ ५ ॥ विश्वामित्रो
जहारैव कृतबुद्धिः श्वजाघनीं । ततः समारभत्कर्म दैवं पित्र्यं च
भारत ॥ ६ ॥ एवं विद्वानदीनात्मा व्यसनस्थो जिजीविषुः ।
सर्वोपायैरुपायज्ञो दीन मात्मान मुद्धरेत् ॥ ७ ॥ एतांबुद्धिं समा-
स्थाय जीवितव्यं सदा भवेत् । जीवन् पुण्य मवाप्नोति पुरुषो भद्र
मश्नुते ॥ ८ ॥ यु० उ० पापस्य यदधिष्ठानंयतः पापं प्रवर्तते ।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ॥ ९ ॥ भी० उ० एको
लोभो महाग्राहो लोभात्पापं प्रवर्तते । लोभात् क्रोधः प्रभवति
क्रोधात् कामः प्रवर्तते ॥ १० ॥ यो न पूरयितुं शक्यो लोभः प्रा-
प्त्या कुरूद्वह । नित्यं गम्भीरतोयाभि रापगाभि रिवोदधिः॥११॥
स लोभः सह मोहेन विजेतव्यो जितात्मना ॥ १२ ॥ दम्भो द्रो-
हश्च निन्दा च पैशुन्यं मत्सरस्तथा । भवन्त्येतानि कौरव्य लुब्धा-
नाम कृतात्मनां ॥ १३ ॥ सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्ति बहु-
श्रुताः । छेत्तारः संशयानां च क्लिश्यन्तीहाल्प बुद्धयः ॥ १४ ॥
कामक्रोध व्यपेता ये निर्ममा निरहंकृताः । सुव्रताः स्थिर मर्यादा-
स्तानुपास्व च पृच्छ च ॥ १५ ॥

अर्थ—निकृष्ट समय आने पर ब्राह्मण पुत्र पोतों को त्या-

गना न चाहता हुआ किस से जीविका करे ॥ १ ॥ भीष्म बोले-- हे महाबाहो देश में उत्तम वृष्टि का होना, प्रजा का योगक्षेम एवं रोग मरण और भय सब राजमूलक होते हैं ॥ २ ॥ यदि प्रजाओं को पीड़ने वाला दुष्ट काल आजाए, तो विज्ञानबल का आश्रय ले कर जीना चाहिये ॥ ३ ॥ क्षीण हुआ पुरुष जिस किसी भी काम से जीविका करे, समर्थ हो कर फिर धर्म का आचरण करे ॥ ४ ॥ जिस २ तरह जीविका होसके, वह विना अनादर के करे, जीना मरने से बढ कर है, जीता हुआ धर्म को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥ पण्डित विश्वामित्र ने कुत्ते की जांघ हरली थी, और उस से फिर देव पित्र्य कर्म किया था ॥ ६ ॥ इस प्रकार अदीन स्वभाव जब विपत्ति में पड़े, तो वह उपाय जान कर सभी उपायों से जीवन रक्षा चाहे, दीन हुए अपने को उद्धार करे ॥ ७ ॥ ऐसी बुद्धि का अवलम्बन करके सदा जिये, जीता हुआ पुरुष पुण्य को प्राप्त होता है और कल्याण देखता है ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे भारत ! पाप का घर क्या है, जिस से पाप प्रवृत्त होता है, यह मैं तत्त्व से सुनना चाहता हूं ॥ ९ ॥ भीष्म बोले-- एक लोभ ही बड़ा मगर है, लोभ से पाप प्रवृत्त होता है, लोभ से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ से काम उत्पन्न होता है ॥ १० ॥ हे कुरुवर ! लोभ ऐसा है, जो कि (लोभ की वस्तुओं के) मिलते जाने से भरा नहीं जा सकता, जैसे गम्भीर जल वाली नदियों से समुद्र ॥ ११ ॥ सो बुद्धिमान् को यह लोभ मोह समेत जीतना चाहिये ॥ १२ ॥ दम्भ, द्रोह, निन्दा, चुगली, और मत्सर ये दोष अवश्यात्मा लोभियों को होते हैं ॥ १३ ॥ ऐसे २ बहुश्रुत,

जो कि बड़े २ शास्त्रों को धारण करने वाले हैं, और लोगों के संदेह मिटाने वाले हैं, वे मूढ भी(लोभ में पड़ कर)क्लेश पाते हैं ॥ १४ ॥ सो जो काम क्रोध से अलग हैं, ममता और अहंकार से रहित हैं, उत्तम व्रतों वाले स्थिर मर्यादा वाले हैं, तुम उनके पास बैठो और उन से पूछो ॥ १५ ॥

अ० १७ (व० १७४-१८१) मोक्ष धर्म

मूल—यु० उ०--धर्माः पितामहेनोक्ता राजधर्माश्रिताः शुभाः । धर्ममाश्रमिणां श्रेष्ठं वक्तुमर्हसि पार्थिव ॥ १ ॥ भी० उ० सर्वत्र विहितो धर्मः स्वर्ग्यः सत्यफलोदयः । बहुद्वारस्य धर्मस्य नेहास्ति विफला क्रिया ॥ २ ॥ नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः । न च प्रज्ञालमर्थानां न सुखानामलं धनं ॥ ३ ॥ न बुद्धिर्धन लाभाय न जाड्य मसमृद्धये । लोकपर्याय वृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः ॥ ४ ॥ बुद्धिमन्तं च शूरं च मूढं भीरुं जडं कविं । दुर्बलं बलवन्तं च भागिनं भजते सुखं ॥ ५ ॥ धेनुर्वत्सस्य गोपस्य स्वामिनस्तस्करस्य च । पयः पिबति यस्तस्या धेनुस्तस्ये ति निश्चयः ॥ ६ ॥ ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः । ते नराः सुखमेधन्ते क्लिश्यत्यन्तरितो जनः ॥ ७ ॥ सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदिवाऽप्रियं । प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः॥ ८ ॥पूर्वदेह कृतं कर्म शुभं वा यदिवाऽशुभं । प्राज्ञं मूढं तथा शूरं भजते यादृशं कृतं ॥ ९ ॥ अद्यैव कुरु· यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयं । नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य नवा कृतं॥१०॥ युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितं । कृते धर्मे भवेत्कीर्तिरिह प्रेत्य च वै सुखं ॥ ११ ॥ मोहेनाहि समाविष्टः पुत्रदारार्थमुद्यतः । कृत्वाकार्य मकार्यं वा पुष्टिमेषां प्रयच्छति ॥ १२ ॥ तं

पुत्रपशुसंपन्नं व्यासक्तमनसं नरं। सुप्तं व्याघ्रो मृगमिव मृत्यु-
रादाय गच्छति ॥ १३ ॥ न मृत्युसेनामायान्तीं जातु कश्चित्प्र-
बाधते। ऋते सत्यमसत् त्याज्यं सत्येह्यमृत माश्रितं ॥ १४ ॥
तस्मात् सत्य व्रताचारः सत्ययोग परायणः। सत्यागमः सदा दा-
न्तः सत्येनैवान्तकं जयेत् ॥ १५ ॥ दुर्भिक्षादेव दुर्भिक्षं क्लेशात्
क्लेशं भयाद् भयं। मृतेभ्यः प्रमृतं यान्ति दरिद्राः पाप कारिणः
॥ १६ ॥ उत्सवा दुत्सवं यान्ति स्वर्गात्स्वर्गं सुखात् सुखं। श्रद्दधा-
नाश्च दान्ताश्च धनाढ्याः शुभकारिणः ॥ १७ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे पितामह! राजधर्म से सम्ब-
न्ध रखने वाले शुभधर्म आप ने कहे हैं, अब हे राजन् आश्र-
मियों के श्रेष्ठ कर्तव्य कहने की कृपा कीजिये ॥१॥ भीष्म बोले-
सच्चे फल लाने वाला, स्वर्ग का साधन धर्म सब आश्रमों से वि-
धान किया है, बहुत द्वारों वाले धर्म की कोई भी क्रिया फल-
हीन नहीं है (अर्थात् धर्म के सभी अंग सुख के साधन हैं) ॥२॥
सुख के लिए निरे मित्र ही पर्याप्त नहीं होते, दुःख के लिए निरे
शत्रु ही पर्याप्त नहीं होते, अर्थों के लिए निरी प्रज्ञा पर्याप्त नहीं,
सुखों के लिए निरा धन पर्याप्त नहीं ॥ ३ ॥ बुद्धि अवश्य धन
लाभ के लिए हो, यह नियम नहीं, मूर्खता दारिद्रता के लिए
हो यह भी नियत नहीं, लोक में सफलता के वृत्तान्त को प्राज्ञ
जानता है, दूसरा नहीं ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् और निर्बुद्धि, शूर
और भीरु, जड और कवि, दुर्बल और बलवान् को सुख सेवन
करता है, जब वह भागी होता है ॥ ५ ॥ धेनु बछड़े की, ग्वाले
की, स्वामी की और चोर की है, उस का जो दूध पीता है, धेनु
उस की है यह निश्चय है ॥ ६ ॥ लोक में जो मनुष्य मूढतम हैं,

और जो बुद्धि के पार पहुंचे हुए हैं, वे सुख से बढ़ते हैं, इन दोनों के बीच २ का पुरुष दुःखी रहता है॥ ७ ॥ सुख वा दुःख प्रिय वा अप्रिय जो २ प्राप्त हो उस का सेवन करे, हृदय से न हारे ॥ ८ ॥ पूर्वदेह में किया शुभ वा अशुभ कर्म प्राज्ञ मूढ और शूरवीर को मिलता है, जैसा उस ने किया है ॥ ९ ॥ आज ही अपनी भलाई में लगो,यह समय तुम्हारे हाथ से न निकल जाए, मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करता, कि इसने किया है, वा नहीं किया है ॥ १० ॥ यौवन में ही धर्मशील बनो, जीवन निःसंदेह अनित्य है, धर्म के करने पर यहां यश और परलोक में सुख होता है ॥ ११ ॥ मोह के वस में हुआ पुत्र कलत्र के लिए उद्योग करता हुआ कार्य अकार्य कर के उन को पालना चाहता है ॥ १२ ॥ उस पुत्र और पशुओं से संपन्न फंसे हुए मन वाले पुरुष को मृत्यु सोए हुए मृग को शेर की भांति ले कर चल देता है ॥ १३ ॥ आती हुई मृत्युसेना को सत्य से अतिरिक्त कोई बाधने वाला नहीं, इस लिए असत्य को त्यागो, सत्य में अमृत है ॥ १४ ॥ इस लिए सत्यव्रत पर चलने वाला, सत्य ब्रह्म के साथ युक्त हुआ, सत्य शास्त्र पर निष्ठा वाला सदा दान्त सत्य से ही मृत्यु को जीतता है ॥ १५ ॥ जो दरिद्र हो कर पाप कारी हैं, वे दुर्भिक्ष से दुर्भिक्ष, क्लेश से क्लेश, भय से भय और मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ १६ ॥ पर वे उत्सव से उत्सव को स्वर्ग से स्वर्ग को सुख से सुख को प्राप्त होते हैं, जो धनाढ्य श्रद्धावान् दान्त और शुभकारी हैं ॥ १७ ॥

अ० १८ (व० १८७-२०४) आत्मा का विवेचन

मूल-भारद्वाज उवाच—पञ्चात्मके पञ्चरतौ पञ्चविज्ञान

चेतने । शरीरे प्राणिनां जीवं वेत्तुमिच्छामि यादृशं ॥ १ ॥ मांस
शोणितसंघाते मेदः स्नाय्वस्थिसंचये । भिद्यमाने शरीरे तु जी-
वो नैवोपलभ्यते ॥ २ ॥ हृष्यति क्रुध्यते कोऽत्र शोचत्युद्विजते
च कः॥ इच्छति ध्यायति द्वेष्टि वाचमीरयते च कः ॥ ३ ॥ भृगुरु-
वाच–पञ्चात्मके पञ्चगुणप्रदर्शी स सर्वगात्रानुगतोऽन्तरात्मा ।
स वेत्ति दुःखानि सुखानि चात्र तद्विप्रयोगात्तु न वेत्ति देहः॥ ४ ॥
न जीवनाशोऽस्ति हि देह भेदे मिथ्यैव तदाहुर्मृत इत्यबुद्धाः । जीव-
स्तु देहान्तरितः प्रयाति दशार्धतैवास्य शरीर भेदः ॥ ५ ॥ एवं
सर्वेषु भूतेषु गूढश्चरति संवृतः । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया
तत्त्वदर्शिभिः ॥ ६ ॥ तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः सततं बुधः ।
लघ्वाहारो विशुद्धात्मा पश्यत्यात्मान मात्मनि॥ ७ ॥ मनु रुवाच-
यथा च कश्चित परशुं गृहीत्वा धूमं न पश्येज्ज्वलनं च काष्ठे ।
तद्वच्छरीरोदरपाणिपादं छित्वा न पश्यन्ति ततो यदन्यत् ॥८॥
तान्येव काष्ठानि यथा विमथ्य धूमं च पश्येज्ज्वलनं च योगात ।
तद्वत स बुद्धिसम ;मिन्द्रियात्मा बुद्धः परं पश्यति तं स्वभावं॥९॥
उत्पत्ति वृद्धि व्यय सन्निपातैर्न युज्यतेऽसौ परमः शरीरी । अनेन
लिंगेन तु लिंग मन्यद् गच्छत्स दृष्टः फलसन्नियोगात ॥ १० ॥
यथा चन्द्रार्के संयुक्तं तमस्तदुपलभ्यते । तद्वच्छरीर संयुक्तः शा-
रीरीत्युप लभ्यते ॥ ११ ॥ यथा चन्द्रार्क निर्मुक्तः स राहुर्नोप
लभ्यते । तद्वच्छरीर निर्मुक्तः शरीरी नोपलभ्यते ॥ १२ ॥ ज्ञा-
नमुत्पद्यते पुंसां क्षयात पापस्य कर्मणः । यथादर्शतलप्रख्ये पश्य-
त्यात्मान मात्मनि ॥ १३ ॥ उद्यन् हि सविता यद्वत्सृजते रश्मि
मण्डलं । स एवास्त मुपाच्छंगस्तदेवात्मनि यच्छति ॥ १४ ॥
अन्तरात्मा तथा देह माविश्येन्द्रिय रश्मिभिः । प्राप्येन्द्रिय गुणान्

पञ्चसोऽस्तमाह्रस गच्छति ॥ १५ ॥ दुःखोपघाते शारीरे मानसे चाप्युपस्थिते । यस्मिन्न शक्यते कर्तुं यत्नस्तं नानुचिन्तयेत् ॥ १६ ॥ भैषज्यमेतद् दुःखस्य यदेतन्नानु चिन्तयेत् । चिन्त्य-माने हि चाभ्येति भूयश्चापि प्रवर्तते ॥ १७ ॥ प्रज्ञया मानसं दुःखं हन्याच्छारीर मौषधैः । एतद्विज्ञान सामर्थ्यं न बालैः सम-तां व्रियात् ॥ १८ ॥ न जानपदिकं दुःख मेकः शोचितु मर्हति । अशोचन् प्रतिकुर्वीत यदि पश्येदुपक्रमं ॥ १९ ॥ परित्यजति योदुःखं सुखं वाप्युभयं नरः । अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न ते शोचन्ति पण्डिताः ॥ २० ॥

अर्थ—भारद्वाज* बोले—पञ्चभूतमय, पांच विषयों में प्रीति वाला, पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच ज्ञानों वाला जो प्राणियों का शरीर है, उस में जीव का जो स्वरूप है, वह जानना चाहता हूं ॥ १ ॥ यह शरीर जो मांस रुधिर चर्बी स्नायु और अस्थियों का संघात है, इस को चीरने फाड़ने पर जीव कोई नहीं मालूम होता है ॥ २ ॥ कौन इस देह में हर्षित और क्रुद्ध होता है, कौन शोक और भय करता है, कौन राग और द्वेष करता है, कौन चिन्तन करता है और कौन वाणी बोलता है ॥ ३ ॥ भृगु बोले—पञ्चभूतमय शरीर में पांचों विषयों का द्रष्टा सारे शरीर को चैतन्य करता हुआ जो अन्तरात्मा है, वह इस में सुख दुःख को अनुभव करता है, उस के अलग होने पर देह नहीं जानता है ॥ ४ ॥ देह के नाश में जीव का नाश नहीं होता है, मर गया है, यह अज्ञानी जन मिथ्या कहते हैं, जीव

---

* यहां भारद्वाज और भृगु का संवाद भीष्मने युधिष्ठिर को सुनाया है, ऐसा ही आगे मनु का भी ।

तो सूक्ष्म देह में ढपा हुआ निकल जाता है, पांचों तत्त्वों का अलग हो जाना ही शरीर का नाश है ॥ ५ ॥ इस प्रकार आत्मा सब भूतों में छिपा रहता है, हां तत्त्वदर्शियों से सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा देखा जाता है ॥ ६ ॥ पहली पिछली रात में लगातार योग साधन द्वारा अल्पाहारी शुद्धात्मा योगी उस आत्मा को अपने अन्दर देखता है ॥ ७ ॥ मनु का उपदेश है—कि जैसे कोई पुरुष कुल्हाड़ा ले कर काठ में धूम और अग्नि नहीं देखता है, इसी प्रकार शरीर के हाथ पाओं पैर आदि को काट कर उस को नहीं देखते हैं, जो उन से अलग है ॥ ८ ॥ उन्हीं काष्ठों को जैसे मथन करके उपाय से धूम और अग्नि को देखता है, इसी प्रकार इन्द्रियों का अन्तरात्मा बुद्धि के साथ बुद्धि से परे वर्तमान अपने स्वरूप को देखता है ॥ ९ ॥ यह जो परे आत्मा है, यह उत्पत्ति वृद्धि ह्रास और नाश से युक्त नहीं होता है, किन्तु फल भोग के लिए वे मालूम उस शरीर से दूसरे शरीर में चला जाता है ॥ १० ॥ जैसे चन्द्र और सूर्य से युक्त तम (ग्रहण के समय चन्द्र और पृथिवी की छाया) उपलब्ध होता है, इस प्रकार शरीर से संयुक्त हुआ जीव उपलब्ध होता है॥११॥ और जैसे चन्द्र और सूर्य से अलग हुआ तम नहीं उपलब्ध होता है, इस प्रकार शरीर से अलग हुआ आत्मा नहीं उपलब्ध होता है ॥ १२ ॥ किन्तु जब पाप के क्षय से पुरुषों को ज्ञान उत्पन्न होता है, तो शीशे के सदृश अपने अन्दर आत्मा को देखता है ॥ १३ ॥ उदय होता हुआ सूर्य जिस प्रकार रश्मिसमूह को फैलाता है, वही अस्त होता हुआ अपने अन्दर समेट लेता है ॥ १४ ॥ इसी प्रकार अन्तरात्मा देह में प्रवेश कर के इन्द्रियों

द्वारा ज्ञान के किरण फैलाता है, और मरने के समय समेट कर साथ ले जाता है ॥ १५ ॥ जब कोई शारीरिक वा मानस दुःख की चोट ऐसी लगे, जिस का कोई प्रतीकार नहीं, तो उस को चिन्तन ही न करे ॥ १६ ॥ दुःख का यह औषध है, कि उस का चिन्तन न करे, चिन्तन करने से वह सामने आता है, और नए सिरे प्रवृत्त होता है ॥ १७ ॥ मानस दुःख को विचार से और शारीर को औषधों से दूर करे, यही जानने (पढ़ने सुनने) का फल है, बालों की समता को न प्राप्त हो (हाय २ न करता रहे) ॥ १८ ॥ देश का जो दुःख है, उस पर अकेले शोक नहीं करना चाहिये (देशवासियों के साथ मिल कर इलाज करे). किन्तु शोक न करता हुआ प्रतीकार करे, यदि कोई इलाज देखे ॥ १९ ॥ जो पुरुष सुख और दुःख दोनों को त्याग देता है, वह ब्रह्म को प्राप्त होता है, ऐसे ज्ञानी पुरुष शोक से पार होजाते हैं ॥ २० ॥

अ० १९ (व० २४२-२४५) आश्रम धर्म

मूल—शुक उवाच—यदिदं वेदवचनं लोकवादे विरुध्यते । प्रमाणे वाऽप्रमाणे वा विरुद्धे शास्त्रता कुतः ॥ १ ॥ व्यास उवाच—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः । यथोक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमांगतिं ॥ २ ॥ एको वाप्याश्रमानेतान् योऽनुतिष्ठेद्यथाविधि । अकामद्वेष संयुक्तः स परत्र विधीयते॥३॥ चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता । एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते ॥ ४ ॥ आयुषस्तु, चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः । गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद्धर्मार्थ कोविदः ॥ ५ ॥ कर्मा-

तिशेषेण गुराध्येतव्यं वभूषता । दक्षिणोऽनपत्रादीस्यादाहूतो गुरुपाश्रयेत ॥ ६ ॥ ये केचिद्विस्तरेणोक्ता नियमा ब्रह्मचारिणः । तान् सर्वानाचरे न्नित्यं भवेचानपगो गुरोः ॥ ७ ॥ वेदव्रतोपवासेन चतुर्थे चायुषोगते । गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावर्तेद्यथाविधि ॥ ८ ॥ द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत । धर्मलब्धैर्युतो दारैरग्नीनाहृत्य सुव्रतः ॥ ९ ॥ गृहमाथि व्रतान्यत्र महान्तीह प्रचक्षते । न दिवा प्रस्वपेज्जातु न पूर्वापररात्रिषु ॥ १० ॥ न भुञ्जीतान्तरा काले नानृतावाह्वयेत स्त्रियं । नास्यानश्नन् गृहे विप्रो वसेत्कश्चिद पूजितः ॥ ११ ॥ विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृत भोजनः । विघसं भृत्यशेषं तु यज्ञ शेष यथामृतं ॥ १२ ॥ ऋत्विक् पुरोहि चार्यैर्मातुला तिथि संश्रितैः । वृद्धबालातुरैर्वैद्यैर्ज्ञाति सम्बन्धि बान्धवैः ॥ १३ ॥ मातापितृभ्यां जामीभिर्भ्रात्रा पुत्रेण भार्यया । दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत ॥ १४ ॥ गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलित मात्मनः । अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत ॥ १५ ॥ अफाल कृष्ट व्रीहि यवं नीवारं विघसानि च । हवींषि संप्रयच्छेत मखेष्वत्रापि पञ्चसु ॥ १६ ॥ चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत् । सद्यस्कारां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणां ॥ १७ ॥ आत्मयाजी सोऽऽत्मरतिरात्म क्रीड्यात्म संश्रयः। आत्मन्यग्नीन् समारोप्य त्यक्त्वा सर्वं परिग्रहान् ॥ १८ ॥ अभयं सर्व भूतेभ्यो दत्वा यः प्रव्रजेद् द्विजः । लोकास्तेजोमयास्तस्य प्रेत्य चानन्त्य मश्नुते ॥ १९ ॥ यस्मिन्वाचः प्रविशन्ति कूप त्रस्ता द्विपाइव । न वक्तारं पुनर्यान्ति स कैवल्याश्रमे वसेत ॥ २० ॥ नैव पश्येन्न श्रणुयादवाच्यं जातु कस्य-

चित् तूष्णीमासीत निन्दायां कुर्वन् भेषज्य मात्मनः ॥ २१ ॥ येन पूर्णमिवाकाशं भवत्येकेन सर्वदा । शून्यं येन जनाकीर्णं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २२ ॥ येन केन चिदाच्छन्नो येन केन चिदाशितः । यत्र क्वचनशायी च तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥२३॥ न क्रुध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः । सर्वभूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २४ ॥ नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितं । कालमेव प्रतीक्षेत निदेशं भृतको यथा ॥ २५ ॥ अनाभ्याहतचित्तः स्यादनभ्याहतवाग् भवेत् । निर्मुक्तः सर्वपापेभ्यो निरमित्रस्य किं भयं ॥ २६ ॥ विमुक्तं सर्वसंगेभ्यो मुनिमाकाशवत् स्थितं । अस्वमेकचरं शान्तं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २७ ॥ जीवितं यस्य धर्मार्थं धर्मो हर्यर्थमेव च । निर्मुक्तं बन्धनैः सर्वैस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥ २८॥

अर्थ—(अब भीष्म पितामह युधिष्ठिर को शुक व्यास संवाद द्वारा आश्रम धर्मों का उपदेश करते हैं) यह जो वेद का वचन साधारण दृष्टि में विरुद्ध जचता है, प्रमाण हो वा अप्रमाण हो, विरुद्ध में शास्त्रत्व की सिद्धि कैसे ॥ १ ॥ व्यास बोले— ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासी अपने २ आश्रम धर्म पर चलते हुए सब परमगति को प्राप्त होते हैं ॥ २ ॥ अथवा एक ही जो यथाविधि इन आश्रमों का अनुष्ठान करे, रागद्वेष से युक्त न हो, वह परलोक में सिद्धि पाता है ॥ ३ ॥ यह चार डंडों वाली सीढ़ी ब्रह्म के निकट पहुंचाती है, इस सीढ़ी पर चढ़ कर ब्रह्मलोक में पूजा जाता है ॥ ४ ॥ आयु के पहले चतुर्थ भाग में धर्म अर्थ का जानने वाला पुरुष ब्रह्मचारी बन कर असूया न करता हुआ गुरु वा गुरुपुत्र के निकट रहे ॥ ५ ॥

वृद्धि चाहने वाले पुरुष को गुरु की सेवा करके पढ़ना चाहिये, सरल हो, निन्दा से रहित हो, बुलाया हुआ गुरु के पास जाए ॥ ६ ॥ ब्रह्मचारी के लिए जो नियम विस्तार से कहे हैं, उन सब का पालन करे, और गुरु से परे २ न रहे ॥ ७ ॥ इस प्रकार वेदव्रत के अनुष्ठान से आयु का चौथा भाग बीत जाने पर गुरु को दक्षिणा दे कर यथा विधि समावर्तन करे ॥ ८ ॥ आयु के दूसरे भाग में गृहस्थ बन कर धर्म से विवाही स्त्री के साथ अग्न्याधान करके घर में बसे ॥ ९ ॥ गृहस्थ के बहुत बड़े व्रत शास्त्र में कहे हैं, दिन को कभी न सोवे, न पहली पिछली रात में ॥ १० ॥ दोनों भोजनों के मध्य में न भोजन करे, ऋतुकाल के बिना स्त्री के पास न जाए, अतिथि ब्राह्मण इस के घर में सत्कार पाए बिना न रहे ॥ ११ ॥ सदा विघस भोजी हो सदा अमृत भोजी हो, भरण पोषण के योग्यों से बचा हुआ विघस है, यज्ञ से बचा हुआ अमृत है ॥ १२ ॥ ऋत्विज्, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रित, वृद्ध, बाल, रोगी, वैद्य, ज्ञाति सम्बन्धी, बान्धव ॥ १३ ॥ माता पिता बहिन भाई पत्नी पुत्र कन्या और दास वर्ग के साथ विवाद न करे ॥ १४ ॥ गृहस्थ जब त्वचा ढीली और बाल श्वेत देखे, और सन्तान के सन्तान होजाए, तब वन का ही आश्रय ले ॥ १५ ॥ वन में भी जो खेत वाह कर नहीं बोए, ऐसे चावल जौ नीवार की हवि पांच यज्ञों में देवे ॥ १६ ॥ आयु का चौथा भाग शेष रहने पर सर्वस्वदक्षिणा वाली प्राजापत्य इष्टि कर के वानप्रस्थ आश्रम को त्याग देवे ॥ १७ ॥ आत्मयज्ञ में लगा हुआ, आत्मा में आनन्द मनाता हुआ आत्मा में क्रीडा वाला आत्मा का आश्रय

लिए आत्मा में अग्नियों का आरोप कर के सारे परिग्रह त्याग कर ॥ १८ ॥ सारे भूतों को अभय दे कर जो द्विज संन्यास लेता है, मरने के अनन्तर उस के तेजोमय लोक होते हैं, और वह अनन्त फल को पाता है ॥ १९ ॥ लोगों के निन्दा वचन जिस के अन्दर कुएं में फैंके की भांति लीन होजाते हैं, मुड़ कर वक्ता की ओर नहीं जाते, वह संन्यास आश्रम में वसे॥२०॥ न कभी किसी का अनिष्ट देखे, न अवाच्य सुने, अपनी (आत्म रोग की) चिकित्सा करता हुआ निन्दा में चुप रहे ॥ २१ ॥ जिस अकेले से सारा आकाश पूर्णसा हो, और लोगों से भरा हुआ भी स्थान जिस के विना शून्य प्रतीत हो, उस को देवता ब्राह्मण जानते हैं ॥ २२ ॥ किसी ने पहनाया, तो पहन लिया, किसीने खिलाया, तो खा लिया, और जहां रात आई सो गया, उस को देवता ब्राह्मण जानते हैं ॥ २३ ॥ जो मानित हो कर हर्ष नहीं करता और अपमानित हो कर क्रोध नहीं करता, सब भूतों को अभय देने वाला है, उस को देवता ब्राह्मण जानते हैं ॥ २४ ॥ न मरने की इच्छा रखे न जीने की, काल की ही प्रतीक्षा करे, जैसे नौकर आज्ञा की प्रतीक्षा करता है ॥ २५ ॥ न चित्त में मैल लाए, न कभी वाणी में मैल लाए, सारे पापों से अलग रहे, जिसका कोई शत्रु नहीं, उस को भय किससे॥२६॥ सारे संगों से अलग हो कर मुनि बन कर आकाश की नाईं स्थित अपने पास कुछ न रखता हुआ अकेला विचरता हुआ जो शान्त है, उस को देवता ब्राह्मण जानते हैं ॥ २७ ॥ जिस का जीवन धर्म के अर्थ और धर्म ईश्वर प्रीति के लिए है, सारे बन्धनों से निर्मुक्त है, उस को देवता ब्राह्मण जानते हैं ॥ २८ ॥

अ०२०(व०२५९)

मूल-यु०उ०कोऽयं धर्मः कुतो धर्मस्तन्मे ब्रूहि पितामह। धर्मस्त्वयमिहार्थः किममुत्रार्थोऽपिवा भवेत ॥ १ ॥ भी० उ० सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणं । चतुर्थमर्थ मित्याहुः कवयो धर्मलक्षणं ॥ २ ॥ लोकयात्रार्थमेवेह धर्मस्य नियमः कृतः। उभयत्र सुखोदर्क इह चैव परत्र च ॥ ३ ॥ धर्मस्य निष्ठा त्वाचारस्तमेवाश्रित्य भोत्स्यसे ॥ ४ ॥ यथाऽधर्मसमाविष्टो धनं गृह्णाति तस्करः । रमते निर्हरं स्तेनः परवित्तमराजके ॥ ५ ॥ यदाऽस्य तद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति । तदा तेषां स्पृहयते ये वै तुष्टाः स्वकैर्धनैः ॥ ६ ॥ सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद् विद्यते परं । सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितं ॥ ७ ॥ अपि पापकृतो रौद्राः सत्यं कृत्वा पृथक् पृथक् । अद्रोहमविसंवादं प्रवर्तन्ते तदाश्रयाः ॥ ८ ॥ ते चेन्मिथोऽधृतिं कुर्युर्विनश्येयुरसंशयं ॥ ९ ॥ न हर्तव्यं परधनमिति धर्मः सनातनः । मन्यन्ते बलवन्तस्तं दुर्बलैः संप्रवर्तितं ॥ १० ॥ यदा नियतिदौर्बल्यमथैषामेव रोचते । न ह्यत्यन्तबलवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ॥ ११ ॥ सर्वतः शंकते स्तेनो मृगो ग्राममिवायिवान् । बहुधा चरितं पापमन्यत्रैवानुपश्यति ॥ १२ ॥ दातव्यमित्ययं धर्म उक्तो भूतहिते रतैः । तं मन्यन्ते धनयुताः कृपणैः संप्रवर्तितं ॥ १३ ॥ यदा नियतिकार्पण्यमथैषामेव रोचते । न ह्यत्यन्तं धनवन्तो भवन्ति सुखिनोऽपि वा ॥ १४ ॥ यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्मपूरुषः । न तत्परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः ॥ १५ ॥ धर्मलक्षणमाख्यात मेतत् ते कुरुसत्तम । तस्मादनार्जवे बुद्धिर्न ते कार्या कदाचन ॥ १६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—धर्म क्या है, किस से धर्म उत्पन्न हुआ है, धर्म क्या इस लोक के लिए है वा परलोक के लिए भी है, हे पितामह यह बतलाइये ॥ १ ॥ भीष्म बोले—वेद, स्मृति और सदाचार ये तीन धर्म के मूल हैं, चौथा अर्थ को धर्म का मूल कहते हैं ॥ २ ॥ लोकयात्रा के लिए जो धर्म का नियम बांधा गया है, वह लोक परलोक दोनों में सुखजनक होता है ॥ ३ ॥ धर्म की निष्ठा तो आचार है, आचार के आश्रय धर्म को जान लोगे ॥ ४ ॥ जैसे अधर्म में लिप्त चोर दूसरे के धन को ग्रहण करता है, अराजक देश पर धन को छीनता हुआ चोर आनन्द मनाता है ॥ ५ ॥ पर जब दूसरे इस का धन छीनते हैं, तब राजा के पास जाता है, तब उन को अच्छा समझता है, जो अपने धनों से संतुष्ट हैं ॥ ६ ॥ सत्य कहना धर्म है, सत्य से बढ़ कर कुछ नहीं, सत्य में सब कुछ मर्यादा में है, सत्य सब की बुनियाद है ॥ ७ ॥ पाप करने वाले बड़े क्रूर पुरुष भी जो अपना सत्य नियम बांध लेते हैं, उस के आश्रय काम करते हैं, उस में न द्रोह करते हैं, न उलट करते हैं ॥ ८ ॥ वे यदि आपस में मर्यादा को तोड़दें, तो निःसंदेह नष्ट होजाएं ॥ ९ ॥ दूसरे का धन नहीं छीनना चाहिये, यह सनातन धर्म है, बल वाले समझते हैं, कि यह धर्म दुर्बलों ने प्रवृत्त किया ॥ १० ॥ पर जब भाग्य से उन में दुर्बलता आजाए, तो फिर इन्हीं को यह धर्म ठीक जचता है, यह कोई नियम नहीं है, कि जो बल वाले हों, वे सदा सुखी भी हों ॥ ११ ॥ ग्राम में आ निकले वन मृग की भांति चोर सब से शंका करता है, उस ने जैसा स्वयं बहुधा पाप किया है, वैसी दूसरे में भी दृष्टि रखता है ॥ १२ ॥

जीवों के हित चाहने वालों ने यह धर्म कहा है. कि दान देना चाहिये. धनी पुरुष कहते हैं, कि यह निर्धनों ने चलाया है॥१३॥ जब भाग्य से उन में निर्धनता आजाए, तो फिर उन को वह धर्म पसन्द आता है, यह नियम नहीं कि धन वाले अवश्य सुखी भी होते हैं ॥ १४ ॥ सो पुरुष दूसरों से किया कर्म जो अपने लिए न चाहै, उस को अपना अप्रिय जान आप भी दूसरों के लिए न करे ॥ १५ ॥ हे कुरुवर यह तुझे धर्म का मूल बतला दिया है, सो तुझें कभी भी कुटिलता में बुद्धि नहीं करनी चाहिये ॥ १६ ॥

अ० २१ (व० २८६-२९३) मिश्रित धर्म

मूल—नारद उवाच—संप्रहृष्टमना नित्यं विशोक इव लक्ष्यसे । नित्यतृप्त इव स्वस्थो बालवच्च विचेष्टसे ॥ १ ॥ समंग उवाच—भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वमेतत्तु मानद । तेषां तत्त्वानि जानामि ततो न विमना ह्यहं ॥ २ ॥ उपक्रमानहं वेद पुनरेव फलोदयान् । लोके फलानि चित्राणि ततो न विमना ह्यहं ॥ ३ ॥ अगाधाश्चाप्रतिष्ठाश्च गतिमन्तश्च नारद । अन्धा जडाश्च जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ४ ॥ सहस्रिणोऽपि जीवन्ति जीवन्ति शतिनस्तथा । शाकेन चान्ये जीवन्ति पश्यास्मानपि जीवतः ॥ ५ ॥ न ह्येव दुःखानि सदा भवन्ति सुखस्य वा नित्यशो लाभ एव । भवात्मकं संपरिवर्तमानं न मादृशः संज्वरं जातु कुर्यात् ॥ ६ ॥ आत्मोत्कर्षं न मार्गेत परेषां परिनिन्दया । स्वगुणैरेव मार्गेत विप्रकर्षं पृथग्जनात् ॥ ७ ॥ निर्गुणास्त्वेव भूयिष्ठमात्मसंभाविता नराः । दोषैरन्यान् गुणवतः क्षिपन्त्यात्मगुणक्षयात्

॥ ८ ॥ अब्रुवन् कस्यचिन्निन्दामात्मपूजामवर्णयन् । विपश्चिद् गुणसम्पन्नः प्राप्नोत्येव महद् यशः ॥ ९ ॥ न लोके दीप्यते मूर्खः केवलात्मप्रशंसया । अपि चापिहितः श्वभ्रे कृतविद्यः प्रकाशते ॥ १० ॥ उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा । अज्ञानाद्धि कृतं पापं तपसैवाभिनिर्णुदेत ॥ ११ ॥ पापं हि कर्म फलति पापमेव स्वयं कृतं । तस्मात् पापं न सेवेत कर्म दुःख फलोदयं ॥ १२ ॥ येऽर्थाः धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान् । धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धन कांक्षया ॥ १३ ॥ धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलं । न तत्सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥ १४ ॥

अर्थ—(भीष्म पितामह युधिष्ठिर को नारद और समंग का संवाद सुनाते हैं) नारद बोले—हे समंग ! तुम सदा प्रसन्न मन, शोक से रहित प्रतीत होते हो, नित्य तृप्त की भांति स्वस्थ हो, बाल के समान (हर्ष शोक से रहित) काम करते हो॥ १ ॥ समंग ने उत्तर दिया—हे मानद ! मैं हो चुके, होने वाले और होते हुए भावों के तत्त्व जानता हूं, इस से विमन नहीं हूं ॥ २ ॥ मैं कर्मारम्भों को जानता हूं, और उन से जो फल निकलते हैं, उन को जानता हूं, लोक में फल भांति २ के मिल रहे हैं, इस से मैं विमन हूं ॥ ३ ॥ हे नारद ! ओछे लंगड़े, गति वाले, अन्धे और जड़ भी जीते हैं. सो हमें भी जीवन चलाते हुए देख ॥ ४ ॥ सहस्रों वाले भी जीते हैं, सैंकड़ों वाले भी जीते हैं, और कई साग खा कर भी जीते हैं, सो हमें भी जीवन चलाते हुए देख ॥ ५ ॥ न सदा दुःख रहते हैं, न ही सुख की सदा प्राप्ति रहती है, संसार चक्र खाता रहता है, फिर मेरे जैसा क्यों कभी

पीड़ित हो ॥ ६ ॥ (गालव के प्रति नारद वचन—) पुरुष को चाहिये, कि दूसरों की निन्दा से अपनी बड़ाई न ढूंढे, अपने गुणों द्वारा ही साधारण पुरुषों से बढ़ना चाहे ॥ ७ ॥ प्रायः अपने को बड़ा मानने वाले निर्गुण पुरुष हीं, अपने में गुण न होने के कारण, गुण वालों को दोष लगाते हैं ॥ ८ ॥ किसी की निन्दा न करता हुआ और अपनी पूजा न कहता हुआ गुण संपन्न ज्ञानी बड़े यश को प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ मूर्ख निरी अपनी प्रशंसा से लोक में नहीं चमकता है, और योग्य विद्वान् गढ़े में छिपाया हुआ भी चमकता है ॥ १० ॥ मनुष्य को चाहिये, कि पुण्य कर्म से ही अपने उत्कर्ष के लिए प्रयत्न करे, अज्ञान से किये पाप को तप से दूर करे ॥ ११ ॥ स्वयं किया पाप कर्म पाप ही फलता है, इस लिए दुःख फल लाने वाले पाप कर्म का कभी सेवन न करे ॥ १२ ॥ जो अर्थ धर्म से होते हैं, वे ही सत्य हैं, जो अधर्म से होते हैं, उन को धिक्कार है, धर्म जो साथ जाने वाला है, उस को धन की कामना से कभी न त्यागे ॥ १३ ॥ धर्म से गिरा हुआ कर्म यद्यपि बड़े फल वाला हो, तौ भी बुद्धिमान् उस का सेवन न करे, वह भला नहीं कहलाता है ॥ १४ ॥

अ० २२ (व० ३२०-) सुलभा जनक संवाद

मूल—युधिष्ठिर उवाच—अपरित्यज्य गार्हस्थ्यं कुरु राजर्षिसत्तम । कः प्राप्तो विनयं बुद्ध्या मोक्षतत्त्वं वदस्व मे ॥ १ ॥ भीष्म उवाच—अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनं । जनकस्य च संवादं सुलभायाश्च भारत ॥ २ ॥ संन्यास फलिकः कश्चिद् बभूव नृपतिः पुरा । मैथिलो जनको नाम धर्मध्वज इति

श्रुतः ॥ ३ ॥ वेदे मोक्षशास्त्रे च स्वे च शास्त्रे कृतश्रमः । इन्द्रियाणि समाधाय शशास वसुधामिमां ॥ ४ ॥ तस्य वेदविदः प्राज्ञाः श्रुत्वा तां साधुवृत्ततां । लोकेषु स्पृहयन्त्यन्ये पुरुषाः पुरुषेश्वर ॥ ५ ॥ अथ धर्मयुगे तस्मिन् योगधर्म मनुष्ठिता । महीमनु चचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ ६ ॥ तया जगदिदं कृत्स्नमटन्त्या मिथिलेश्वरः । तत्र तत्र श्रुतो मोक्षे कथ्यमानस्त्रिदण्डिभिः ॥ ७ ॥ साऽतिसूक्ष्मां कथां श्रुत्वा तथ्यं नेति ससंशया । दर्शने जातसंकल्पा जनकस्य बभूव ह ॥ ८ ॥ सा प्राप्य मिथिलां रम्यां प्रभूतजनसंकुलां । भैक्ष्यचर्यापदेशेन ददर्श मिथिलेश्वरं ॥ ९ ॥ राजा तस्याः परं दृष्ट्वा सौकुमार्यं वपुस्तदा । केयं कस्य कुतो वेति बभूवागतविस्मयः ॥ १० ॥ ततोऽस्याः स्वागतं कृत्वा व्यादिश्य च वरासनं । पूजितां पादशौचेन वरान्नेनाप्यतर्पयत् ॥ ११ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे कुरु राजर्षिवर ! किस पुरुषने गृहस्थ को न त्याग कर शास्त्रीय मोक्षतत्त्व को पाया है, यह मुझे कहिये ॥ १ ॥ भीष्म बोले—इस विषय में सुलभा और जनक के संवादरूप पुराने इतिहास को बतलाते हैं ॥ २ ॥ प्राचीन काल में संन्यास के फल वाला (आत्मदर्शी) मैथिल राजा जनक धर्मध्वज नाम से प्रसिद्ध हुआ है ॥ ३ ॥ उस ने वेद, मोक्ष शास्त्र और दण्डनीति में पूरा श्रम किया, इन्द्रियों को एकाग्र कर के पृथिवी का शासन करने लगा ॥४॥ हे नरेश ! वेदवेत्ता पण्डितजन लोक में उस के साधु चरित्र को सुन कर सभी उस से स्पृहा (रश्क) करने लगे ॥ ५ ॥ उस धर्मयुग में योगधर्म का अनुष्ठान करने वाली एक सुलभा नाम भिक्षुकी

(संन्यासिनी) पृथिवी पर घूम रही थी ॥ ६ ॥ उस ने सर्वत्र घूमते हुए वहां २ संन्यासियों से सुना, कि मिथिला का राजा मोक्षधर्म में पूरी निष्ठा वाला है ॥ ७ ॥ उस से उस की सूक्ष्म बातें सुन कर,यह सत्य है वा नहीं,ऐसा संदेह कर के उसने जनक के दर्शन का संकल्प किया ॥ ८ ॥ अनेक लोगों से भरी सुहावनी मिथिला नगरी में पहुंच कर भैक्ष्यचर्या के बहाने से मिथिलेश के दर्शन किये॥ ९ ॥ राजा उस के अत्यन्त सौन्दर्य युक्त शरीर को देख कर मन ही मन 'यह कौन है, किस की कन्या है, कहां से आई है' ऐसा सोचते हुए विस्मित हुए ॥ १० ॥ तब उस का स्वागत कर के उत्तमासन दे, चरण धो कर पूजा की और उत्तम अन्न से उसे तृप्त किया ॥ ११ ॥

मूल—अथ भुक्तवती प्रीता राजानं मन्त्रिभिर्वृतं । सर्वभाष्यविदां मध्ये चोदयामास भिक्षुकी ॥ १२ ॥ सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया । सत्त्वं सत्त्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः ॥ १३ ॥ नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्य रश्मीन् संयम्य रश्मिभिः । सास्म तं चोदयिष्यन्ती योगबन्धैर्बबन्ध ह ॥ १४ ॥ जनकोऽप्युत्स्मयन् राजा भावमस्या विशेषयन् । प्रतिजग्राह भावेन भावमस्या नृपोत्तम ॥ १५ ॥ तदेकस्मिन्नधिष्ठाने संवादः श्रूयतामयं । छत्रादिषु विमुक्तस्य मुक्तायाश्च त्रिदण्डके ॥ १६ ॥ जनक उवाच—भगवत्याः क्व चर्येयं कृता क्व च गमिष्यसि । कस्य च त्वं कुतो वेति पप्रच्छैनां महीपतिः ॥ १७ ॥ छत्रादिषु विशेषेषु मुक्तं मां विद्धि तत्त्वतः । स त्वां संमन्तुमिच्छामि मानार्हा हि मतासि मे ॥ १८ ॥ यस्माच्चैतन्मया प्राप्तं ज्ञानं वैशेषिकं पुरा । यस्य नान्यः प्रवक्तास्ति मोक्षं तमपि मे शृणु ॥ १९ ॥ पराशर

सगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः । भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः परमसंमतः॥ २० ॥ सांख्यज्ञाने च योगे च महीपालविधौ तथा । त्रिविधे मोक्षधर्मेऽस्मिन् गताध्वा छिन्नसंशयः ॥ २१ ॥ स यथा शास्त्रदृष्टेन मार्गेणेह परिभ्रमन् । वार्षिकांश्चतुरो मासान् पुरा मयि सुखोषितः ॥ २२ ॥ तेनाहं सांख्यमुख्येन सुदृष्टार्थेन तत्त्वतः । श्रावितस्त्रिविधं मोक्षं न च राज्याद्धि चालितः ॥ २३ ॥

अर्थ—भोजन कर के प्रसन्न हुई सुलभा ने ' यह मुक्त है वा नहीं' इस संशय से सब भाष्यवेत्ताओं के मध्य में मन्त्रियों से युक्त राजा को मोक्षधर्म में कहने की प्रेरणा की, वह इस प्रकार कि नेत्रों की रश्मियों से राजा के नेत्रों की रश्मियों को वश में कर उस योगाभ्यासिनी ने योगद्वारा अपने चित्त को राजा के चित्त में डाला, और उस को प्रेरने की इच्छा से योग बन्धनों द्वारा जकड़ दिया ॥ १२—१४ ॥ जनक भी मुसकराते हुए इस के भाव को दबाने लगे भी उस के भाव को अपने भाव से स्वीकार कर गए ॥ १५ ॥ अब एक ही सूक्ष्म शरीर में स्थित हुए उन दोनों का संवाद सुनो, जहां न राजा के छत्रादि चिन्ह थे, न सुलभा के त्रिदण्ड का चिन्ह था ॥ १६ ॥ जनक बोले—हे भगवति ! यह बाना कैसे धारण किया, तुम किस की कन्या हो, कहां से आई हो, कहां जाओगी, यह राजा ने उससे पूछा ॥ १७ ॥ मुझे आप तत्त्वतः छत्रादि से असंग जानें, मैं आप को जानना चाहता हूं, आप मान के योग्य हैं ॥ १८ ॥ जिससे मैंने यह मोक्ष का विशेष ज्ञान प्राप्त किया है, जिस का बतलाने वाला और कोई नहीं मिला है, उस को भी सुनिये

॥ १९ ॥ पराशर गोत्री वृद्ध पञ्चशिख भिक्षु का मैं प्यारा शिष्य हूं ॥ २० ॥ सांख्ययोग और दण्डनीति इन तीन प्रकार के मोक्षधर्म में उस ने मेरे सारे संशय काट दिये हैं ॥ २१ ॥ वे शास्त्रमर्यादानुसार घूमते हुए वर्षा के चार महीने यहां सुख से ठहरे ॥ २२ ॥ उस सांख्यकुशल तत्त्वद्रष्टा ने मुझे त्रिविधमोक्ष सुनाया है, और राज्य से विचलित नहीं किया ॥ २३ ॥

मूल—यथाचोपतापितं बीजं कपाले यत्र तत्र वा । प्राप्याप्यंकुरहेतुत्व मबीजत्वान्न जायते ॥ २४ ॥ तद्वद्भगवताऽनेन शिखाप्रोक्तेन भिक्षुणा । ज्ञानं कृतमबीजं मे विषयेषु न जायते ॥ २५ ॥ यश्च मे दक्षिणं बाहुं चन्दनेन समुक्षयेत् । सव्यं वास्यापि यस्तक्षेत्समावेतावुभौ मम ॥ २६ ॥ सुखीसोहमवाप्तार्थः समलोष्ठाश्मकाञ्चनः । मुक्तसंगः स्थितो राज्ये विशिष्टोऽन्यैस्त्रिदण्डिभिः ॥ २७ ॥ त्रिदण्डादिषु यद्यस्ति मोक्षो ज्ञानेन कस्यचित् । छत्रादिषु कथं न स्यात् तुल्यहेतौ परिग्रहे ॥ २८ ॥ येन येन हि यस्यार्थः कारणेनेह कर्मणि । तत्तदालम्बते सर्वद्रव्ये स्वार्थपरिग्रहे ॥ २९ ॥ दोषदर्शी तु गार्हस्थ्ये यो व्रजत्याश्रमान्तरे । उत्सृजन् परिगृह्णंश्च सोपि संगान्न मुच्यते ॥ ३० ॥ आधिपत्ये तथा तुल्ये निग्रहानुग्रहात्मके । राजर्षिभिक्षुकास्तुल्या मुच्यन्ते केन हेतुना ॥ ३१ ॥ अथ सत्याधिपत्येपि ज्ञानेनैवेह केवलं । मुच्यन्ते सर्वपापेभ्यो देहे परमके स्थिताः ॥ ३२ ॥ काषायधारणं मौण्ड्यं त्रिविष्टब्धं कमण्डलुं । लिंगान्युत्पथ भूतानि न मोक्षायेति मे मतिः ॥ ३३ ॥ यदि सत्यपि लिंगेऽस्मिन् ज्ञानमेवात्र कारणं । निर्मोक्षायेह दुःखस्य लिंगमात्रं निरर्थकं ॥ ३४ ॥ आकिंचन्ये न मोक्षोस्ति किंचन्ये नास्ति बन्धनं । किंचन्ये चेतरे चैव

जन्तुर्ज्ञानेन मुच्यते ॥ २५ ॥ तस्माद्धर्मार्थकामेषु तथा राज्य प-
रिग्रहे । बन्धनायतनेष्वेषु विद्ध्यबन्धे पदे स्थितं ॥ २६ ॥ रा-
ज्यैश्वर्यमयः पाशः स्नेहायतनबन्धनः । मोक्षाश्मनिशितेनेह
छिन्नस्त्यागासिना मया ॥ २७ ॥ सोऽहमेवंगतो मुक्तो जातास्थ-
स्त्वयि भिक्षुकि । अयथार्थं हि ते वर्णं वक्ष्यामि शृणु तन्मम॥२८॥

अर्थ—जैसे अंकुर का कारण भी बीज कपाल में भुना हुआ अबीज होजाने से जन्मता नहीं है ॥ २४ ॥ इस प्रकार भगवान् पञ्चशिख भिक्षु ने मेरे ज्ञान को अबीज (वासना रहित) बना दिया है, इस से विषयों में प्रवृत्त नहीं होता है ॥ २५ ॥ जो मेरी दाईं भुजाको चन्दन से सेचन करे, और जो बाईं को बसूले (तेसे) से काटे, वे दोनों मुझे सम हैं ॥ २६ ॥ मैं सुखी हूं, मेरे कार्य सिद्ध हैं, मुझे ढेला पत्थर और सोना बराबर हैं, मैं संग त्याग कर राज्य कर रहा हूं, दूसरे त्रिदण्डियों से मैं अधिक हूं ॥२७॥ त्रिदण्ड आदि के होते हुए भी जब किसी का ज्ञान ही से मोक्ष होता है, तो छत्र आदियों के होते हुए क्यों न हो, इसमें थोड़ा वा बहुत परिग्रह तुल्य है॥२८॥ अपने कर्म के निमित्त जिस २ कारण से प्रयोजन होता है, उस २ को पुरुष रखता है, जिसने से स्वार्थ सिद्ध होता हो ॥ २९ ॥ जो गृहाश्रम में दोष देखता हुआ आश्रमान्तर में जाता है, तो वह भी किसी वस्तु को त्यागता और किसी को स्वीकार करता हुआ संग से मुक्त नहीं होता है ॥ ३० ॥ जब निग्रह अनुग्रह रूप स्वामित्व राजाओं के साथ भिक्षुओं का एक समान है, तो (भिक्षु) किस हेतु से मुक्त होते हैं ॥ ३१ ॥ और यदि स्वामित्व के होते हुए भी केवल ज्ञान से सारे पापों से मुक्त होते हैं ॥ ३२ ॥ तो

गेरवे वस्त्र धारना, मूंड मुंडाना, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारना ये चिन्ह मोक्ष के लिए नहीं, [redacted] उलटे भी होसकते हैं, यह मेरा निश्चय है ॥ ३३ ॥ यदि चिन्हों के होते हुए भी मोक्ष के लिए ज्ञान ही कारण है, तो लिंग मात्र निरर्थक है ॥ ३४ ॥ धन न होने से मुक्ति नहीं होजाती, और धन होने से बन्धन नहीं हो जाता, धन हो वा न हो, पुरुष ज्ञान से मुक्त होता है ॥ ३५ ॥ इस लिए धर्म अर्थ काम में और राज्य के प्रबन्ध में, इन सब बन्धन के हेतुओं में मुझ को अबन्ध पद में स्थित जान ॥ ३६ ॥ राज्यैश्वर्य रूपी पाश, जो राग के बन्धन में बांधने वाला है, उस को मोक्ष के साण पर साने हुए त्याग के खड्ग से मैंने काट डाला है ॥ ३७ ॥ सो मैं इस प्रकार मुक्त हुआ तुझे आदर से देखता हूं, किन्तु तुझ में जो अयथार्थ बात दीखती है वह कहूंगा, सुनो ॥ ३८ ॥

मूल—सौकुमार्यं तथा रूपं वपुरग्र्यं तथावयः। तवैतानि समस्तानि नियमश्चेति संशयः ॥ ३९ ॥ युक्तोऽयंस्यात्वयेतिस्या-दर्पितो मत्परिग्रहः। न च कामसमायुक्ते युक्तेप्यस्ति त्रिदण्डके ॥ ४० ॥ मत्पक्ष संश्रयाचायं शृणु यस्ते व्यतिक्रमः। आश्रयन्त्याः स्वभावेन मम पूर्वपरिग्रहं ॥ ४१ ॥ वर्ण प्रवर मुख्यासि ब्राह्मणी क्षत्रियस्त्वहं। नावयोरेक योगोस्ति मा कृथा वर्णसंकरं ॥ ४२ ॥ वर्तसे मोक्षधर्मेण त्वं गार्हस्थ्येऽह माश्रमे। अयं चापि सुकष्टस्ते द्वितीयोऽऽश्रम संकरः ॥ ४३ ॥ स गोत्रां वाऽसगोत्रां वा न वेद त्वां न वेत्थ मां। स गोत्रमाविशन्त्यास्ते तृतीयो गोत्र-संकरः ॥ ४४ ॥ अथ जीवति ते भर्ता प्रोषितोप्यथवा क्वचित्।

अगम्या परभार्येति चतुर्थो धर्म संकरः ॥ ४५ ॥ सा त्वमेतान्य कार्याणि कार्यापेक्षा व्यवस्यसि । अविज्ञानेन वा युक्ता मिथ्याज्ञानेन वा पुनः ॥ ४६ ॥ अथवापि स्वतन्त्रासि स्वदोषेणेह कर्हिचित् । यदि किञ्चिच्छ्रुतं तेऽस्ति सर्वं कृत मनर्थकं ॥४७॥ कृतेयं हि विजिज्ञासा मुक्तो नेति त्वया मम । एतत्सर्वं प्रतिच्छन्नं मयि नार्हसि गूहितुं ॥ ४८ ॥ सा त्वं जातिं श्रुतं वृत्तं भावं प्रकृतिमात्मनः । कृत्यमा गमने चैव वक्तुमर्हसि तत्त्वतः ॥ ४९ ॥ भीष्म उवाच—इत्येतैरसुखैर्वाक्यैरयुक्तै रसमञ्जसैः । प्रत्यादिष्टा नरेन्द्रेण सुलभा न व्यकम्पत ॥ ५०॥ उक्त वाक्ये तु नृपतौ सुलभा चारुदर्शना । ततश्चारुतरं वाक्यं प्रचक्रामाथ भाषितुं ॥ ५१ ॥

अर्थ—यह तुम्हारी सुकुमारता, रूप, लावण्य, शरीर का सुगठन और युवावस्था, दूसरी ओर योगानुष्ठान इस से संशय पड़ता है ॥ ३९ ॥ 'यह मुक्त है वा नहीं' ऐसा संशय करके तुम मेरे चित्त को अपने रूप आदि से लुभाती हो । पर कामयुक्त योगी को त्रिदण्ड धारण उचित नहीं ॥ ४० ॥ मेरे शरीर के सहारे अपने चित्त से मेरे चित्त में प्रवेश करने से जो तूने व्यतिक्रम किया है, उसे सुन ॥ ४१ ॥ तू वर्णों में श्रेष्ठ ब्राह्मणी है, मैं क्षत्रिय हूं, हमारा दोनों का एक मेल नहीं, सो वर्णसंकर मत कर ॥ ४२ ॥ तू मोक्षधर्म में स्थित है, मैं गृहाश्रम में हूं, यह बड़ा हानिकारक तेरा दूसरा आश्रम संकर (आरूढ पतित) दोष है ॥ ४३ ॥ तू मेरी सगोत्रा है वा असगोत्रा है, यह न मैं तुझे जानता हूं । न तू मुझे जानती है । पर यदि तूने सगोत्र के शरीर में प्रवेश किया है, तो यह तेरे लिए तीसरा गोत्रसंकर का दोष हुआ है ॥ ४४ ॥ और यदि तेरा पति जीता है । वा

कहीं देशान्तर में गया हुआ है, तो परनारी अगम्या होती है, इस से चौथा तुझे धर्मसंकर दोष हुआ ॥ ४५ ॥ सो तू इतने अकार्य अपनी अर्थ सिद्धि के लिए अज्ञान से वा मिथ्या ज्ञान से करती है ॥ ४६ ॥ अथवा यदि तू अपने किसी दोष से स्वतन्त्रा है, तो जो कुछ तूने पढ़ा सुना है, सब तेरा अनर्थक है ॥ ४७ ॥ 'यह मुक्त है वा नहीं' यह जो तूने मेरी परीक्षा चाही है, यह सारा रहस्य मेरे आगे तू छिपा नहीं सकती॥४८॥ सो तुम जन्म, ज्ञान, चरित्र, अभिप्राय, अपना स्वभाव और आने का प्रयोजन ठीक २ कहो ॥ ४९ ॥ भीष्म बोले-सुलभा राजा द्वारा इन रूखे अयुक्त असमञ्जस वचनों से पूछी जाने पर तनिक भी विचलित न हुई ॥ ५० ॥ और राजा का वचन समाप्त होने पर उस सुन्दरी ने सुचारु वचन कहना आरम्भ किया ॥ ५१ ॥

मूल—सुलभोवाच—आत्मन्येवात्मनाऽऽत्मानं यथा त्वमनुपश्यसि । एवमेवात्मनात्मानमन्यस्मिन् किं न पश्यसि ॥५२॥ इदं मे स्यादिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य मैथिल । कासि कस्य कुतो वेति वचनैः किं प्रयोजनं ॥ ५३ ॥ रिपौ मित्रेऽथ मध्यस्थे विजये सन्धिविग्रहे । कृतवान् यो महीपालः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणं प्रियेवा प्य प्रियेवापि दुर्बले बलवत्यपि । यस्य नास्ति समं चक्षुः किं तस्मिन् मुक्तलक्षणं ॥ ५५ ॥ तदयुक्तस्य ते मोक्षे योऽभिमानो भवेन्नृप । सुहृद्भिः संनिवार्यस्तेऽविरक्तस्येव भेषजं ॥५६॥ परतन्त्रः सदा राजा स्वल्पेष्वपि प्रसज्जते । सन्धिविग्रहयोगे च कुतो राज्ञः स्वतन्त्रता ॥ ५७ ॥ यदाह्याज्ञापयत्यन्यांस्तत्रास्योक्ता स्वतन्त्रता । अवशः कार्यते तत्र तस्मिंस्तस्मिन् क्षणेस्थितः

॥ ५८ ॥ स्वप्नकामो न लभते स्वप्तुं कार्यार्थिभिर्जनैः । शयने-
चाप्यनुज्ञातः सुप्तउत्थाप्यतेऽवशः ॥ ५९ ॥ स्नाह्यालभापिबभाश
जुहुध्यग्नीन् यजेत्यपि । ब्रवीहि शृणुचापीति विवशः कार्यते परैः
॥ ६० ॥ सर्वः स्वे स्वे गृहे राजा सर्वः स्वे स्वे गृहेगृही । निग्रहा-
नुग्रहान् कुर्वंस्तुल्यो जनक राजभिः ॥ ६१ ॥ स्वदेहे नाभिषंगो
मे कुतः परपरिग्रहे । न मामेवंविधां मुक्तां मीदृशं वक्तुमर्हसि॥६२॥
सत्वेनानुप्रवेशो हि योऽयं त्वयि कृतो मया । किं तवापकृतं तत्र
यदि मुक्तोसि सर्वशः ॥ ६३ ॥ न पाणिभ्यां न बाहुभ्यां पादोरु-
भ्यां न चानघ । न गात्रावयवैरन्यैः स्पृशामि त्वां नराधिप॥ ६४ ॥
यथा पुष्करपर्णस्थं जलं तत्पर्णमस्पृशत् । तिष्ठत्यस्पृशती तद्वत्
त्वयि वत्स्यामि मैथिल ॥ ६५ ॥ यदि चाप्यस्पृशन्त्या मे स्पर्शं
जानासि कंचन । ज्ञानं कृतमबीजं ते कथं तेनेह भिक्षुणा ॥ ६६ ॥
स गार्हस्थ्याच्च्युतश्च त्वं मोक्षं चानाप्य दुर्विदं । उभयोरन्तराले वै
वर्तसे मोक्षवार्तिकः ॥ ६७ ॥ नास्मि वर्णोत्तमा जाता न वैश्या
नावरा तथा । तव राजन् सवर्णास्मि शुद्धयोनिरविप्लुता ॥ ६८ ॥
प्रधानो नाम राजर्षिर्व्यक्तं ते श्रोत्रमागतः । कुले तस्य समुत्पन्नां
सुलभां नाम विद्धि मां ॥ ६९ ॥ साहं तस्मिन् कुलेजाता भर्तर्य-
सति मद्विधे । विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतं ॥ ७० ॥
न धर्मसंकरकरी स्वधर्मोस्मि धृतव्रता । नासमीक्ष्यागता चेह त्वत्स-
काशं जनाधिप ॥ ७१ ॥ मोक्षे ते भावितां बुद्धिं श्रुत्वाहं कुशलै-
षिणी । तव मोक्षस्य चाप्यस्य जिज्ञासार्थं मिहागता ॥ ७२ ॥
यथा शून्ये पुरागारे भिक्षुरेकां निशां वसेत् । तथाहं त्वच्छरीरेऽ-
स्मिन्निमां वत्स्यामि शर्वरीं ॥ ७३ ॥ साहं मानप्रदानेन वागाति-

ध्येन चार्चिता । सुप्ता सुखरणं प्रीतास्वो गमिष्यामि मानद॥७४॥
भीष्म उवाच–इत्येतानि वाक्यानि हेतुमन्त्यर्थवन्ति च । श्रुत्वाना-
धिजगौ राजा किञ्चिदन्यदतः परं ॥ ७५ ॥

अर्थ–सुलभा बोली–तुम अपने अन्दर अपने आत्मा से अपने आत्मा को देखते हो, इसी प्रकार दूसरे में अपने आत्मा मे आत्मा को क्यों नहीं देखते हो ॥ ५२ ॥ यह मेरे पास हो, यह न हो, इस प्रकार द्वन्द्वों से मुक्त हुए आप को हे मैथिल 'तू कौन है, किस की है, कहां से आई है' इन वचनों से क्या प्रयोजन ॥ ५३ ॥ शत्रु मित्र मध्यस्थ में तथा सन्धि विग्रह में जो भूपति समय बिताता है, उस में मुक्त का लक्षण क्या हो सकता है ॥ ५४ ॥ प्रिय और अप्रिय में, दुर्बल और बलवान् में जिस की समान दृष्टि नहीं, उस में मुक्त का लक्षण क्या हो सकता है ॥ ५५ ॥ हे राजन् अपथ्य सेवी रोगी के औषध सेवन की भांति तुम जो बिना योग के मोक्ष का अभिमान करते हो, तुम्हारे मित्रों को उचित है, कि उस अभिमान को छुड़ावें ॥ ५६ ॥ राजा सदा परतन्त्र होता है, उस को छोटी २ बातों में भी आसक्त होना पड़ता है, सन्धि विग्रह के सम्बन्ध में राजा की स्वतन्त्रता कहां ॥ ५७ ॥ जब वह दूसरों को आज्ञा देता है, तब उस की स्वतन्त्रता कही है, पर उस समय में भी वे २ काम उस को विवश किये होते हैं ॥ ५८ ॥ राजा की सोने की इच्छा होती है, तौ भी कार्यार्थी लोग उसे सोने नहीं देते, सोने पर भी (उठने के समय की) अनुज्ञा दे कर सोया हुआ बेबस उठाया जाता है ॥ ५९ ॥ स्नान कीजिये, लीजिये, पीजिये, खाइये, अग्निहोत्र कीजिये, यज्ञ कीजिये, कहिये, सुनिये, इस

प्रकार केवल दूसरों द्वारा काम में लगाया जाता है ॥ ६० ॥
सब कोई अपने २ घर में राजा है, सब कोई अपने २ घर में
घर का मालिक है, घर में निग्रह अनुग्रह करता हुआ सब कोई
राजाओं के समान है ॥ ६१ ॥ मेरी तो अपने देह में भी आ-
सक्ति नहीं, क्या फिर दूसरे के देह में, इस प्रकार की योगयुक्त
मुझ को आप ऐसा नहीं कह सकते ॥ ६२ ॥ आप यदि सब
प्रकार से मुक्त हैं, तो चित्त के द्वारा यह जो मैंने तुझ में अनु-
प्रवेश किया है, इस से तुम्हारी क्या बुराई की है ॥ ६३ ॥ हे
निष्पाप ! मैंने तुझ को हाथ भुजा पाद ऊरु अथवा दूसरे किसी
अंग के द्वारा स्पर्श नहीं किया ॥ ६४ ॥ जैसे कमल के पत्ते
पर जल स्पर्श नहीं करता है, इसी प्रकार बिना स्पर्श के मैं तुझ
में वास करूंगी ॥ ६५ ॥ और यदि मेरे स्पर्श न करने से भी
तुम स्पर्श अनुभव करते हो, तो उस भिक्षु ने तेरा ज्ञान निर्बीज
कैसे किया ॥ ६६ ॥ तुम गृहस्थ धर्म से च्युत हो कर और
दुर्ज्ञेय मोक्ष धर्म को न जान कर दोनों के बीच में लटकते हुए
मोक्ष की बातें बनाते हो ॥ ६७ ॥ मैं जन्म से न ब्राह्मणी हूं,
न वैश्या, न शूद्रा, हे राजन् मैं तेरी सवर्णा हूं, शुद्ध योनि,
अपने धर्म से न फिसली हुई ॥ ६८ ॥ प्रधान नाम राजऋषि
का आपने नाम सुना होगा, मैं उसीके कुल में उत्पन्न हुई हूं,
मेरा नाम सुलभा है ॥ ६९ ॥ मैंने उस वंश में जन्म ले कर
अपने समान पति न पाया, तब मैंने मोक्ष धर्म की शिक्षा लेके
संन्यास धारण किया है ॥ ७० ॥ मैं धर्म का संकर करने वाली
नहीं हूं, मैं अपने व्रत के अन्दर दृढ हूं, हे राजन् मैं बिन सोचे

तेरे पास नहीं आई हूं ॥ ७१ ॥ मोक्ष में तेरी स्थिर बुद्धि सुन कर तेरा कल्याण चाहती हुई तेरे मोक्ष की जिज्ञासा के लिए यहां आई हूं ॥ ७२ ॥ जैसे सूने घर में भिक्षु एक रात निवास करता है, वैसे मैं तेरे इस शरीर में एक रात वास करूंगी॥७३॥ आपने मान दान और वाणी से मेरा सत्कार किया है, सो मैं रात इस घर में सो कर कल चली जाउंगी ॥ ७४ ॥ भीष्म बोले—इन युक्ति युक्त और अर्थ वाले वचनों को सुन कर इस से आगे राजा ने कुछ नहीं कहा ॥ ७५ ॥

शान्तिपर्व समाप्त हुआ ॥



श्रीमद्भगवद्गीता—पं० राजाराम कृत भाषा भाष्यसमेत—मूल बड़े मोटे अक्षरों में, हरएक पद का अलग २ अर्थ, अन्वयार्थ, और सविस्तर भाष्य सहित—मूल्य .... २)

पता—मैनेजर आर्षग्रन्थावलि लाहौर

१३ अनुशासनपर्व ॥

अ० १ (व०१) धर्मानुशासन

मूल—यु० उ० शमो बहुविधाकारः सूक्ष्म उक्तः पिता-मह । स्वकृताद कातु शान्तिः स्याच्छमाद् बहुविधादपि ॥ १ ॥ शराचितं शरीरं हि तीव्र व्रणमुदीक्ष्यते । शमं नोपलभे वीर दुष्कृतान्येव चिन्तयन् ॥ २ ॥ रुधिरेणावसिक्तांगं प्रस्रवन्तं यथाऽचलं । त्वां दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्र सीदे वर्षास्विवाम्बुजं॥ ३ ॥ वयं हि धार्तराष्ट्राश्च काममन्युवशंगताः । कृत्वेदं निन्दितं कर्म प्राप्स्यामः कां गतिं नृप ॥ ४ ॥ इदं तु धार्तराष्ट्रस्य श्रेयो मन्ये जनाधिप । इमामवस्थां संप्राप्तं यदसौ त्वां न पश्यति ॥ ५ ॥ अन्यस्मिन्नपि लोके वै यथा मुच्येम किल्बिषात् । तथा प्रसाधि मां राजन् मम चेदिच्छसि प्रियं ॥ ६ ॥ भी० उ० परतन्त्रं कथं हेतुमात्मान-मनुपश्यसि । कर्मणां हि महाभाग सूक्ष्मं ह्येतदतीन्द्रियं ॥ ७ ॥ यथा मृत्पिण्डतः कर्ता कुरुतेयद्यदिच्छति । एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे पितामह ! (शोक निवृत्ति का साधन जो) शम (है वह)अनेक प्रकार का सूक्ष्म आपने कहा है, पर अनेक प्रकार के शम द्वारा भी मुझे अपने किये से कैसे शान्ति मिले ॥ १ ॥ आप का शरीर बाणों से भरा हुआ और तीव्र घावों से युक्त देख कर हे वीर अपने पापों को सोचते हुए मुझे शान्ति नहीं मिलती है ॥ २ ॥ जल झरते हुए पर्वत की भांति रुधिर से आप के लिबड़े शरीर को देख कर हे पुरुषवर! मैं ऐसा दुःखी हो रहा हूं, जैसा वर्षा में कमल ॥ ३ ॥ हे नृप !

हम और धृतराष्ट्र के पुत्र काम क्रोध के वश हुए ऐसा निन्दित कर्म करके किस गति को प्राप्त होंगे ॥ ४ ॥ हे राजन् ! मैं दुर्योधन के यह कल्याण की बात देखता हूं, कि इस अवस्था में पड़े आप को वह नहीं देखता है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! यदि आप मेरा प्रिय चाहते हैं, तो ऐसा उपदेश दीजिये, जिस से इस परलोक में पाप से छूट जाएं ॥ ६ ॥ भीष्म बोले—हे युधिष्ठिर तुम जिस काम में परतन्त्र थे, उस में अपने को हेतु क्यों समझते हो, हे महाभाग ! कर्मों का यह अंश सूक्ष्म है, परोक्ष है ॥ ७ ॥ जैसे मिट्टी के गोले से कुम्हार ! जो २ चाहता है, बनाता है, वैसे अपने किये कर्म को मनुष्य प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

मूल—यु० उ० दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् । भी० उ०-नाबीजं जायते किञ्चिन्न बीजेन विनाफलं ॥९॥ यादृशं वपतेबीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षकः । सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलं ॥ १० ॥ यथा बीजं विनाक्षेत्र मुप्तं भवति निष्फलं । तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ११ ॥ क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीज मुदाहृतं । क्षेत्रबीज समायोगात्ततः सस्यं समृध्यते ॥ १२ ॥ शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा । कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥ १३ ॥ अर्थो वा मित्रवर्गो वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितं । श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृत कर्मभिः ॥ १४ ॥ नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीबं नापि निष्क्रियं । ना कर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनं ॥ १५ ॥ आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः । आत्मैव ह्यात्मनः साक्षी कृतस्याप्य कृतस्य च ॥ १६ ॥ देवानां शरणं पुण्यं सर्वं पुण्यैरवाप्यते । पुण्यहीनं नरं प्राप्य किं दैवं प्रकरिष्यति ॥ १७ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—दैव और पौरुष में से कौन श्रेष्ठ तर है । भीष्म बोले—बिना बीज के कुछ नहीं उगता, बीज के बिना फल नहीं होता ॥ ९ ॥ बोने वाला शरीर रूपी क्षेत्र को पा कर पुण्य पाप का जैसा बीज बोता है, वैसा फल पाता है ॥ १० ॥ जैसे बीज बिना क्षेत्र के बोया हुआ निष्फल होता है, वैसे पौरुष के बिना दैव सिद्ध नहीं होता ॥ ११ ॥ क्षेत्र पौरुष है, दैव बीज कहा गया है, क्षेत्र और बीज के अच्छे मेल से खेती फलती है ॥ १२ ॥ सुख शुभकर्म से और दुःख पाप से होता है, किया सारे फलता है, न किया कहीं नहीं भोगा जाता ॥ १३ ॥ धन, मित्र वर्ग, ऐश्वर्य, कुल और श्री बिना कर्मों के नहीं भोगने मिलते ॥ १४ ॥ धन उस के पास नहीं आते, जिस ने दान नहीं दिया हुआ, वा नपुंसक है, वा कर्महीन है, वा आलसी है, वा शौर्य रहित है, वा तपोहीन है ॥ १५ ॥ आप ही अपना बन्धु है आप ही अपना शत्रु है, आप ही अपने कृत अकृत का साक्षी है ॥ १६ ॥ देवताओं का रक्षक पुण्य है, पुण्यों से सब कुछ मिलता है, पुण्यहीन नर को पाकर दैव क्या करेगा ॥ १७ ॥

मूल—यु० उ० कर्मणां च समस्तानां फलानि भरतर्षभ । फलानि महतां श्रेष्ठ प्रब्रूहि परिपृच्छतः ॥ १८ ॥ भी०उ० चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृतां । अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पञ्चदक्षिणः ॥ १९ ॥ यो दद्यादपरिक्लिष्ट मध्वमध्वानि वर्तते । श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ॥ २० ॥ धनं कभेत दानेन मौनेनाज्ञां विन्दते । उपभोगांश्च तपसा ब्रह्मचर्येण जी-

वितं ॥ २१ ॥ अधीत्य सर्वान् वेदान् वै सद्यो दुःखाद्विमुच्यते । मानसं हि चरन् धर्मं स्वर्गलोक मुपाश्नुते ॥ २२ ॥ यथा धेनु सहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरं । एवं पूर्व कृतंकर्म कर्तारमनु गच्छति ॥ २३ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले–हे भरतवर हे महापुरुषवर ! कर्म सारे जो फल वाले हैं, उन के फल बतलाएं ॥ १८ ॥ भीष्मबोले घर आए अतिथि को प्रेम की दृष्टि से देखे, मन उधर देवे, सत्य मधुर वाणी बोले, पास बैठे, और (जाते समय) पीछे चले,यह पांच दक्षिणाओं वाला यज्ञ है ॥ १९ ॥ जो मार्ग में वर्तमान है, थका हुआ है, पहले कभी देखा नहीं है, उस को जो प्रसन्न हृदय से अन्न देता है, उस को भारी पुण्य फल होता है ॥ २० ॥ हे राजन् ! दान देने से धन पाता है, मुनिव्रत (विचार शीलता) से आसन, तप से उपभोग, और ब्रह्मचर्य से जीवन पाता है॥२१॥ सारे वेदों को पढ कर शीघ्र दुःख से मुक्त होता है मानस धर्माचरण से स्वर्ग को भोगता है ॥ २२ ॥ जैसे सहस्रों धेनुओं में से बछड़ा अपनी माता को पा लेता है, इस प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ता को प्राप्त होता है ॥ २३ ॥

अ० २ (व०-११) लक्ष्मी कैसे स्त्री पुरुषों में रहती है

मूल—यु० उ० कीदृशे पुरुषे तात स्त्रीषु वा भरतर्षभ । श्रीः पद्मा वसते नित्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भी० उ० श्रीरुवाच—वसामि नित्यं सुभगे प्रगल्भे दक्षे नरे कर्मणि वर्तमाने । अक्रोधने देवपरे कृतज्ञे जितेन्द्रिये नित्यमुदीर्ण, सत्त्वे ॥ २ ॥ नाकर्मशीले पुरुषे वसामि न नास्तिके सांकरिके कृतघ्ने । न भिन्न-

वृत्ते न नृशंसवृत्ते न चाविनीते न गुरुष्वसूयके ॥ ३ ॥ ये चाल्प-
तेजोबलसत्त्वमानाः क्लिश्यन्ति कुप्यन्ति च यत्रतत्र । न चैव
तिष्ठामि तथा विधेषु नरेषु संगुप्तमनोरथेषु ॥ ४ ॥ यश्चात्मनि
प्रार्थयते न किञ्चिद् यश्च स्वभावोपहतान्तरात्मा । तेष्वल्पसंतोष
परेषु नित्यं नरेषु नाहं निवसामि सम्यक् ॥ ५ ॥ वसामि धर्म-
शीलेषु धर्मज्ञेषु महात्मसु । वृद्धसेविषु दान्तेषु सत्त्वज्ञेषु महा-
त्मसु ॥ ६ ॥ अवन्ध्यकालेषु च सदा दानशौचरतेषु च । ब्रह्म-
चर्यतपोज्ञानगोद्विजातिप्रियेषु च ॥ ७ ॥ स्त्रीषु कान्तासु शा-
न्तासु देवद्विज परासु च । विशुद्धगृहभाण्डासु गोधान्याभिर-
तासु च ॥ ८ ॥ प्रकीर्ण भाण्डा मनवेक्ष्य कारिणीं सदा च भर्तुः
प्रतिकूल वादिनीं । परस्य वेश्माभिरता मलज्जा मेवं विधां तां
परिवर्जयामि ॥ ९ ॥ लोलामदक्षा मवलेपिनीं च व्यपेतशौचां
कलहप्रियां च । निद्राभिभूतां सततं शयाना मेवंविधां स्त्रीं परि-
वर्जयामि ॥ १० ॥ सत्यासु नित्यं प्रियदर्शनासु सौभाग्य युक्तासु
गुणान्वितासु । वसामि नारीषु पतिव्रतासु कल्याणशीलासु वि-
भूषितासु ॥ ११ ॥ यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च
वृष्टिमत्सु । वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्र वीथिषु च शार-
दीषु ॥ १२ ॥ नदीषु हंसस्वननादितासु तपस्विसिद्ध द्विजसेवि-
तासु । मत्ते गजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यं ॥ १३ ॥
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव । वैश्ये च
कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषण नित्ययुक्ते ॥ १४ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे तात ! कैसे पुरुषों अथवा कैसी
स्त्रियों में पद्मा लक्ष्मी सदा रहती है, यह मुझे कहिये ॥१॥ भीष्म

कहने लगे, लक्ष्मी स्वयं यह कहती है कि—मैं सदा प्रतिभावान्, कार्यदक्ष, निरालसी, क्रोध रहित, ईश्वर परायण, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, और नित्योद्योगी पुरुष में वास करती हूं ॥ २ ॥ और अकर्मण्य, नास्तिक, वर्णसंकर कारक, कृतघ्न, चरित्र से गिरे हुए, दुर्जन, अविनीत, गुरुओं से असूया करने वाले के निकट कभी नहीं रहती हूं ॥ ३ ॥ जिन का तेज बल पराक्रम और मान जगत में घट है, जो जहां तहां तंग और कुपित होते रहते हैं, और जिन के मनोरथ गुप्त हैं, उन में वास नहीं करती हूं ॥ ४ ॥ जो अपने लिए उच्च आकांक्षाएं नहीं रखते, जिन का अन्तरात्मा स्वभावतः दबा हुआ है, उन थोड़े में संतोष वाले पुरुषों के निकट मैं वास नहीं करती हूं ॥ ५ ॥ धर्म में निष्ठा वाले, धर्मज्ञ, वृद्धसेवी, दान्त, शुद्ध हृदय महात्माओं में वास करती हूं ॥ ६ ॥ जो समय को व्यर्थ नहीं गंवाते, दान और शौच में प्रीति वाले हैं, ब्रह्मचर्य, तप, ज्ञान के तथा गौ ब्राह्मण के प्यारे हैं ॥ ७ ॥ स्त्रियें जो पति की प्यारी, शान्त हृदया, देव द्विजों की पूजक, घर के बर्तनों को शुद्ध रखने वाली पशु और अनाज के संभालने वाली हैं, उन में सदा वास करती हूं ॥ ८ ॥ जिस के बर्तन इधर उधर बिखरे रहते हैं, जो बिना विचारे कार्य करती है, जो भर्ता के प्रतिकूल बोलती है, जो पराये घर में प्रीति वाली है, जो लज्जा हीन है, ऐसी स्त्री को परित्याग किया करती हूं ॥ ९ ॥ चञ्चल, अनिपुण, अभिमानिनी, शौचहीन, कलहप्रिया, निद्रालु, सोई रहने वाली स्त्री को परित्याग देती हूं ॥ १० ॥ सत्यवादिनी, प्रिय दर्शना, सौभाग्य वाली, गुणों वाली, पतिव्रता, क-

रूपाण वाली वस्त्र भूषणों को उत्तम रखने वाली स्त्रियों में वास करती हूं ॥ ११ ॥ सब प्रकार की सवारियें, कन्याएं, भूषण, वृष्टि वाले मेघ मण्डल, फूले हुए कमल, शरद् ऋतु के नक्षत्र पुञ्ज में ॥ १२ ॥ हंस की ध्वनियों से गूंजती हुई, और तपस्वियों सिद्धों और ब्राह्मणों से सेवित नदियों में, मत्त हाथी, सांड, राजा, सिंहासन और सत्पुरुषों में सदा वास करती हूं ॥ १३ ॥ स्वाध्याय प्रधान ब्राह्मणों में, धर्माभिरत क्षत्रियों में, खेती प्रिय वैश्यों में और सेवापरायण शूद्रों में सदा वास करती हूं ॥१४॥

अ० ३ (व० २२-२३) शुभाशुभ कर्मों के फल

मूल—अहिंसा सत्यमक्रोध आनृशंस्यं दमस्तथा। आर्जवं चैव राजेन्द्र निश्चितं धर्मलक्षणं ॥ १ ॥ ब्राह्मणांश्चैव मन्येत गुरूं-श्चाप्यभिपूजयेत। सर्वभूतानुकोमश्च मृदुशीलः प्रियंवदः ॥ २ ॥ अधिकारे यदनृतं यच्च राजसु पैशुनं। गुरोश्चालीक निर्बन्धः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥ प्रहरेन्न नरेन्द्रेषु न हन्याद् गां तथैव च। नाग्निं परित्यजेज्जातु न च वेदान् परित्यजेत् ॥ ४ ॥ निराकृत्य च गुणादेषं ब्राह्मणं साधुसंमतं। दूरादानाय्य सत्कृत्य सर्व तश्चापि पूजयेत् ॥ ५ ॥ ये परस्वापहर्तारः परस्वानां च नाशकाः। सूचकाश्च परेषां ये ते वै निरयगामिनः ॥ ६ ॥ प्रपाणां च सभानां च संक्रमाणां तथैव च। आगाराणां च भेत्तारो नरा निरयगामिनः ॥ ७ ॥ अनाथां प्रमदां बालां वृद्धां भीतां तपस्विनीं। वञ्चयन्ति नरा ये च ते वै निरयगामिनः ॥ ८ ॥ वृत्तिच्छेदं गृहच्छेदं दारच्छेदं च भारत। मित्रच्छेदं तथाऽऽशायास्ते वै निरयगामिनः ॥ ९ ॥ अकृतज्ञाश्च मित्राणां समयानां च दूषकाः।

लाभेषु विषयाश्चैव ते वै निरयगामिनः ॥ १० ॥ ब्राह्मणानां गवां चैव कन्यानां च युधिष्ठिर । येऽन्तरायान्ति कार्येषु ते वै निरयगामिनः ॥ ११ ॥ क्षान्तान् दान्तास्तथा प्राज्ञान् दीर्घकालं सहोषितान् । त्यजन्ति कृतकृत्या ये ते वै निरयगामिनः ॥ १२ ॥ बालानामथ वृद्धानां दासानां चैव ये नराः । अदत्त्वा भक्षयन्त्यग्रे ते वै निरयगामिनः ॥ १३ ॥ दानेन तपसा चैव सत्येन च युधिष्ठिर । ये धर्ममनुवर्तन्ते ते नराः स्वर्ग गामिनः ॥ १४ ॥ क्षमावन्तश्च धीराश्च धर्मकार्येषु चोत्थिताः । मंगलाचार संपन्नाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ १५ ॥ वस्त्राभरणदातारो भक्ष्यपानान्नदास्तथा । कुटुम्बानां च भर्तारः पुरुषाः स्वर्ग गामिनः ॥ १६ ॥ सर्वहिंसानिवृत्ता ये नरा सर्व सहाश्च ये । सर्वस्याश्रय भूताश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १७ ॥ मातरं पितरं चैव शुश्रूषन्ति जितेन्द्रियाः भ्रातॄणां चैव सस्नेहास्ते नराः स्वर्ग गामिनः ॥ १८ ॥ आढ्याश्च बलवन्तश्च यौवनस्थाश्च भारत । ये वै जितेन्द्रिया धीरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ १९ ॥ अपराधिषु सस्नेहा मृदवो मृदुवत्सलाः । आराधन सुखाश्चापि पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ २० ॥ सहस्रपरिवेष्टारस्तथैव च सहस्रदाः । त्रातारश्च सहस्राणां ते नराः स्वर्ग गामिनः ॥ २१ ॥ विहारावसथोद्यानकूपारामसभाप्रपाः । वप्राणां चैव कर्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ २२ ॥ रसानां चाथ बीजानां धान्यानां च युधिष्ठिर । स्वयमुत्पाद्य दातारः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ २३ ॥ यस्मिंस्तस्मिन् कुलेजाता बहुपुत्राः शतायुषः । सानुक्रोशा जितक्रोधाः पुरुषाः स्वर्गगामिनः ॥ २४ ॥

अर्थ—अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, दया, दम और

सरलता हे राजन् ये निश्चित धर्म के स्वरूप हैं ॥ १ ॥ ब्राह्मणों का मान करे, गुरुओं की पूजा करे, सब के अनुकूल हो, मृदु स्वभाव और प्रियवादी हो ॥ २ ॥ किसी अधिकार के विषय में जो झूठ है, जो राजाओं के विषय में चुगली खाता है, और गुरु पर मिथ्या दोष ये ब्रह्महत्या के तुल्य हैं ॥ ३ ॥ राजाओं पर प्रहार न करे, गौ का हनन न करे, अग्नि का और वेद का कभी त्याग न करे ॥ ४ ॥ भले पुरुषों से आदरणीय गुणी ब्राह्मण को सुन कर दूर से लाकर सत्कार करके सब प्रकार उस की पूजा करे ॥ ५ ॥ जो पुरुष पराये धनों के छीनने वाले, पराये धनों के नाशक, और दूसरों की चुगली खाने वाले हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ६ ॥ प्याऊ, सभा, पुल, और घरों के तोड़ने वाले नरकगामी होते हैं ॥ ७ ॥ विधवा, बाला, बूढी, डरी हुई, तपस्विनी स्त्री को जो पुरुष धोखा देते हैं, वे नरकगामी होते हैं ॥ ८ ॥ जो किसी की जीविका, घर, स्त्री, मित्र और आशा को काटते हैं, वे नरकगामी हैं ॥ ९ ॥ जो मित्रों के अकृतज्ञ हैं, कि ये संकेत के विरुद्ध चलते हैं, और कामों में विषम होते हैं, वे पुरुष नरकगामी हैं॥ १० ॥ ब्राह्मणों के गौओं के और कन्याओं के कार्य में जो विघ्न डालते हैं, वे नरकगामी हैं ॥ ११ ॥ क्षमा वाले, दान्त, बुद्धिमान, देर तक साथ रहे साथियों को जो अपना प्रयोजन पूरा करके त्याग देते हैं, वे नरकगामी हैं ॥ १२ ॥ जो पुरुष बाल वृद्ध और दासों को न देकर पहले आप खाते हैं, वे नरकगामी हैं ॥ १३ ॥ और हे युधिष्ठिर ! जो दान, तप और सचाई से धर्म का अनुसरण

करते हैं, वे पुरुष स्वर्गगामी हैं ॥ १४ ॥ क्षमा वाले और धर्म-कार्यों में तत्पर मंगलाचार से युक्त पुरुष स्वर्ग गामी हैं ॥ १५ ॥ जो वस्त्रों और भूषणों का दान करने वाले, भक्ष्य, पान और अन्न के देने वाले, कुटम्बों के पालने वाले पुरुष हैं, वे स्वर्गगामी हैं ॥ १६ ॥ जो पुरुष सब प्रकार की हिंसाओं से हटे हुए हैं, सब कुछ सहने वाले हैं, और सब के आश्रय दाता हैं, वे स्वर्गगामी हैं ॥ १७ ॥ जो माता पिता के सेवक हैं, जितेन्द्रिय हैं, भाइयों से स्नेह रखते हैं, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ १८ ॥ जो धनवान, बलवान् और युवा हो कर जितेन्द्रिय हैं, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ १९ ॥ अपराधियों पर स्नेह वाले, नर्म, नर्म दिल वालों को प्यार करने वाले हैं, जिन को प्रसन्न करना आसान है, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ २० ॥ सहस्रों के परोसने वाले सहस्रों के देने वाले, और सहस्रों के रक्षक हैं, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ २१ ॥ विहार, घर, उद्यान, कुएं, बाग, सभा, प्याउ और कोठों के बनाने वाले हैं, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ २२ ॥ जो रसों के बीजों के धान्यों के स्वयं उत्पन्न कर के देने वाले हैं, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ २३ ॥ जिस किसी कुल में जन्मे बहुत पुत्रों वाले और सौ वर्ष की आयु वाले हैं, दयावान् हैं और क्रोध को जीते हुए हैं, वे नर स्वर्गगामी हैं ॥ २४ ॥

अ० ४ (व० ४४-४९) धर्म और अधर्म

मूल—यु० उ०—यन्मूलं सर्वधर्माणां स्वजनस्य गृहस्य च। पितृदेवातिथीनां च तन्मेब्रूहि पितामह ॥ १ ॥ भी० उ०—शील-वृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च। सद्भिरेवं प्रदातव्या क-

न्या गुणयुते वरे ॥ २ ॥ अन्योप्यथ न विक्रेयो मनुष्यः किं
पुनः प्रजाः । अधर्ममूलैर्धनैस्तैर्नैव धर्मोथ कश्चन ॥ ३ ॥ पितृभि-
र्भ्रातृभिश्चैताः श्वशुरैरथ देवरैः । पूज्या भूषयितव्याश्च बहुक-
ल्याण मीप्सुभिः ॥ ४ ॥ स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र दे-
वताः । अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५ ॥
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः । स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो-
रति भोगाश्च केवलाः ॥ ६ ॥ उत्पादन मपत्यस्य जातस्य परि-
पालनं । प्रीत्यर्थं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनं ॥ ७ ॥
विदेहराज दुहिता चात्रश्लोक मगायत ॥ ८ ॥ नास्ति यज्ञ क्रिया
काचिन्न श्राद्धं नोपवासकं । धर्मः स्वभर्तृ शुश्रूषा तया स्वर्ग ज-
यन्त्युत ॥ ९ ॥ श्रिय एताः स्त्रियो नाम सत्कार्या भूति मिच्छता।
पालिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत ॥ १० ॥ माता
पितृभ्यां यस्त्यक्तः पथि यस्तं प्रकल्पयेत । न चास्य मातापितरौ
ज्ञायेतां सहि कृत्रिमः ॥ ११ ॥ अस्वामिकस्य स्वामित्वं यस्मिन्
संप्रति लक्ष्यते । यो वर्णः पोषयेद तं च तद्वर्णस्तस्य जायते ॥१२॥
तद्गोत्रबन्धुजं तस्य कुर्यात् संस्कार मच्युत। अथ देया तु कन्या-
स्यात् तद्वर्णस्य युधिष्ठिर ॥ १३ ॥

अर्थ—यु० बोले—जो सारे धर्मों का, अपने जनों का, घर
के सुखों का, पितृदेव और अतिथिपूजा का मूल है, वह कहिये
॥ १ ॥ भीष्म बोले—सत्पुरुषों को चाहिये कि शील, चारित्र,
विद्या, योनि और कर्म की परीक्षा करके गुणवान् वर को कन्या
देवे ॥ २ ॥ मनुष्य तो कोई भी बेचना नहीं चाहिये, क्या फिर
अपनी संतान, अधर्म मूल धनों से कभी कोई धर्म नहीं होता॥३॥

पिता भाई पति देवर सब को चाहिये, कि स्त्रियों का आदर सत्कार करें और उन को अच्छे वस्त्र भूषण दें, जो बहुत कल्याण चाहते हैं ॥ ४ ॥ जहां स्त्रियें पूजी जाती हैं, वहां देवता रमण करते हैं, और जहां इन की पूजा नहीं होती, वहां सारे कार्य निष्फल होते हैं ॥ ५ ॥ स्त्रियें मान के योग्य हैं हे मनुष्यों उन का मान करो, गृहस्थ धर्म और रति भोग का कारण केवल स्त्रियें हैं ॥ ६ ॥ सन्तान का उत्पादन और उत्पन्न हुए का पालन, लोकयात्रा का प्रीति का स्त्री प्रत्यक्ष मूल है ॥ ७ ॥ इस विषय में विदेह राज की कन्या ने श्लोक गाया है ॥ ८ ॥ स्त्रियों के लिए न यज्ञ क्रिया है, न श्राद्ध है, न उपवास है, अपनी पति की सेवा उन का धर्म है, इस से वे स्वर्ग को जीतती हैं ॥ ९ ॥ ये जो स्त्रियें हैं, ये साक्षात लक्ष्मियें हैं, वृद्धि चाहने वाले को इन का सत्कार करना चाहिये, रक्षा की हुई और (गुणों से) वश में की हुई स्त्री साक्षात लक्ष्मी होती है ॥ १० ॥ भीष्म बोले—देखो यदि कोई बच्चा किसी माता पिता ने त्याग दिया हो, और उस के माता पिता का पता न लगे, तो जो उसे स्वीकार करे, उस का वह कृत्रिम पुत्र होगा ॥ ११ ॥ जिस का कोई और स्वामी नहीं बनता, उस का वह पूरा स्वामी है, वर्तमान में जिस के पास है, इस लिए जिस वर्ण का पुरुष उसे पाले पोसे उसी के वर्ण का वह हो जाता है ॥ १२ ॥ हे युधिष्ठिर ! वह अपने गोत्र बन्धुओं में उत्पन्न हुए के सदृश उस का विवाह करे, और यदि कन्या हो तो उसी वर्ण में देवे ॥ १३ ॥

अ० ५ (व० ५८-६१) दानधर्म

मूल—यु० उ०—आरामाणां तडागानां यत्फलं कुरुपुंगव ।

तदहं श्रोतु मिच्छामि त्वत्तोऽद्य भरतर्षभ ॥ १ ॥ भीम उवाच—
धर्मस्यार्थस्य कामस्य फलमाहुर्मनीषिणः । तडागं सुकृतं देशे क्षेत्र-
मेकं महाश्रयं ॥ २ ॥ निदाघकाले पानीयं तडागे यस्य तिष्ठति ।
वाजिमेधफलं तस्य फलं वैमुनयो विदुः ॥ ३ ॥ स कुलं तार-
येत सर्वं यस्य खाते जलाशये । गावः पिबन्ति सलिलं साधवश्च
नराः सदा ॥ ४ ॥ स्थावराणां च भूतानां जातयः षट् प्रकी-
र्तिताः । वृक्षगुल्मलतावल्ल्यस्त्वक् सारास्तृणजातयः ॥ ५ ॥
एता जात्यस्तु वृक्षाणां तेषां रोपे गुणास्त्विमे । कीर्तिश्च मानुषे
लोके प्रेत्य चैव फलं शुभं ॥ ६ ॥ पुष्पिताः फलवन्तश्च तर्पय-
न्तीह मानवान् । तस्मात्तडागे सद्वृक्षा रोप्या श्रेयोर्थिना सदा
॥ ७ ॥ तडागकृद् वृक्षरोपी इष्टयज्ञश्च यो द्विजः । एते स्वर्गे म-
हीयन्ते ये चान्ये सत्यवादिनः ॥ ८ ॥ तस्मात्तडागं कुर्वीत आ-
रामांश्चैव रोपयेत् । यजेच्च विविधैर्यज्ञैः सत्यं च सततं वदेत्॥९॥
यु० उ०—यानीमानि बहिर्वेद्यां दानानि परिचक्षते । तेभ्यो वि-
शिष्टं किं दानं मतं ते कुरुपुंगव ॥ १० ॥ भी० उ० यद्यदिष्टतमं
लोके यच्चास्य दयितं गृहे । तत्तद्गुणवते देयं तदेवाक्षय मि-
च्छता ॥ ११ ॥ प्रियाणि लभते नित्यं प्रियदः प्रियकृत्तथा ।
प्रियो भवति भूताना मिह चैव परत्र च ॥ १२ ॥ अमित्रमपि
चेद्दीनं शरणैषिणमागतं । व्यसने योऽनु गृह्णाति सवै पुरुषसत्तमः
॥ १३ ॥ कृशाय कृतविद्याय वृत्तिक्षीणाय सीदते । अपहन्यात्
क्षुधां यस्तु न तेन पुरुषः समः ॥ १४ ॥ विद्यास्नाता व्रतस्नाता
धर्ममाश्रित्य जीविनः । गूढस्वाध्याय तपसो ब्राह्मणाः संशित-
व्रताः ॥ १५ ॥ तेषु शुद्धेषु दान्तेषु स्वदार निरतेषु च । यत् क-
रिष्यसि कल्याणं तत्ते लोके युधांपते ॥ १६ ॥ अति दानानि

सर्वाणि पृथिवीदान मुच्यते । अचलाह्यक्षया भूमिर्दोग्ध्री कामा-
न्निहोत्तमान् ॥ १७ ॥ यथा जनित्रीस्वं पुत्रं क्षीरेण भरते सदा।
अनुगृह्णाति दातारं तथा सर्वरसैर्मही ॥ १८ ॥ यथाचन्द्रमसो वृ-
द्धिरहन्यहनि जायते । तथा भूमि कृतं दानं सस्ये सस्ये विवर्धते
॥ १९ ॥ अन्नदः प्राणदो लोके सर्वदः प्रोच्यते तु सः । त्रिषु-
लोकेषु धर्मार्थ मन्नं देयमतो बुधैः ॥ २० ॥ शीतवातातपसहां
यागभूमिं सुसंस्कृतां । प्रदाय सुरलोकस्थः पुण्यान्तेपि न चाल्यते
॥ २१ ॥ अतः परं तु गोदानं कीर्तयिष्यामि तेऽनघ ॥ २२ ॥
पयसा हविषा दध्ना शकृता चाथ चर्मणा । अस्थिभिश्चोप कुर्वन्ति
शृङ्गैर्वालैश्च भारत ॥ २३ ॥ नासां शीतातपौ स्यातां सदैताः कर्म
कुर्वते । न वर्षविषयं वाऽपि दुःखमासां भवत्युत ॥ २४ ॥ ता
इमा विप्रमुख्येभ्यो यो ददाति महीपते । निस्तरेदापदं कृच्छ्रां
विषमस्थोपि पार्थिव ॥ २५ ॥ अन्नमेव मनुष्याणां प्राणानाहु-
र्मनीषिणः । तच्च सर्वं नरव्याघ्र पानीयात् संप्रवर्तते ॥ २६ ॥
तस्मात्पानीयदानाद्धि न परं विद्यते क्वचित् । धन्यं यशस्य मायु-
ष्यं जलदान मिहोच्यते ॥ २७ ॥ वाससां संप्रदानेन स्वदारानि-
रतो नरः । सुवस्त्रश्च सुवेषश्च भवतीत्यनु शुश्रुम ॥ २८ ॥ तुल्य-
नामानि देयानि त्रीणि तुल्य फलानि च । सर्वकाम फलानीह
गावः पृथ्वी सरस्वती ॥ २९ ॥ यो ब्रयाच्चापि शिष्याय धर्म्यां
ब्राह्मीं सरस्वतीं । पृथिवीगोप्रदानाभ्यां तुल्यं स फल मश्नुते ३०

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे कुरुवर ! बगीचों और तालाबों
का जो फल है, वह मैं आप से सुनना चाहता हूं ॥ १ ॥ भीष्म
बोले—पण्डित कहते हैं अच्छे स्थान पर उत्तम बनाया हुआ ता-

लाय धर्म अर्थ और भोग देता है ॥ २ ॥ गर्मी के दिनों में जिस के तालाब में पानी विद्यमान रहता है, मुनिजन उस को अश्वमेध का फल कहते हैं ॥ ३ ॥ वह पुरुष अपनी सारी कुल को तार देता है, जिस के खोदे हुए जलाशय में गौएं और भले पुरुष सदा जल पीते हैं ॥ ४ ॥ स्थावरों की छः जातियां कही हैं, वृक्ष, झाडियें, बेलें, वल्लें, त्वक्सार (जिन के छिलके काम आते हैं) और घास ॥ ५ ॥ ये जातियें वृक्षों की हैं, इन के लगाने में ये गुण हैं, मनुष्य लोक में यश और परलोक में शुभ फल होता है ॥ ६ ॥ फूले फले हुए ये मनुष्यों को तृप्त करते हैं, इस लिए कल्याण चाहने वाले को तालाब पर अच्छे वृक्ष लगाने चाहिये ॥ ७ ॥ तालाब बनवाने वाले, वृक्ष लगवाने वाले और यज्ञ करने वाले और सत्यवादी ये सब पुरुष स्वर्ग में पूजे जाते हैं ॥ ८ ॥ इस लिए पुरुष को चाहिये, कि तालाब बनवाए, वृक्ष रोपे, विविध यज्ञों से यजन करे और सदा सत्य बोले ॥९॥ युधिष्ठिर बोले—जितने ये यज्ञ की दक्षिणा से स्वतन्त्र दान दिये जाते हैं, उन में से किस २ दान को आप विशेष मानते हैं ॥ १० ॥ भीष्म बोले—लोक में जो २ इसे अधिक प्रिय है, वह २ गुण वाले को देना चाहिये, जो उस का अक्षय फल चाहता है ॥ ११ ॥ जो प्रिय देने वाला और प्रिय करने वाला है, वह प्रिय लाभ करता है, और लोक परलोक में सब का प्यारा होता है ॥ १२ ॥ विपद् में दीन हो कर शरणागत हुए शत्रु पर भी जो अनुग्रह करता है, वह पुरुषवर है ॥ १३ ॥ दुर्बल, वृत्तिहीन दुःखित हुए विद्यावान् की जो भूख मिटाता है, उस के समान कोई पुरुष नहीं है ॥ १४ ॥ जो ब्राह्मण विद्यास्नात

व्रत स्नात, धर्मानुसार जीविका करने वाले, गुप्त स्वाध्याय और तप वाले, तीव्र व्रतों वाले हैं, ऐसे शुद्ध दान्त एकनारीव्रती ब्राह्मणों के विषय में जो भलाई करोगे, वह तुम्हें लोक परलोक में अवश्य फलेगी ॥ १५—१६ ॥ पृथिवी दान सब दानों से बढ़ कर है, भूमि जो अचल और अक्षय है, वह उत्तम कामनाओं का दूध देती रहती है ॥ १७ ॥ जैसे जननी दूध से अपने पुत्र का सदा पोषण करती है, वैसे भूमि सब रसों से दाता पर अनुग्रह करती है ॥ १८ ॥ जैसे चन्द्रमा की वृद्धि दिन पर दिन होती रहती है, वैसे भूमि का दान हरएक खेती में बढ़ता रहता है॥१९॥ अन्न का दाता लोक में प्राणदाता कहलाता है, वह सब कुछ देने वाला है, इस लिए बुद्धिमानों को चाहिये, कि तीनों लोकों में धर्मार्थ अन्न देवें ॥ २० ॥ जो शीत वात धूप के सहने वाली सजी हुई याग भूमि देता है, वह स्वर्ग लोक में स्थित हुआ पुण्य की समाप्ति में भी नहीं फिसलता है (अर्थात् यज्ञों के साथ २ उस का पुण्य बढ़ता रहने से वहीं टिका रहता है) ॥ २१ ॥ इस से आगे हे निष्पाप तुझे गौदान के विषय में कहूंगा ॥ २२ ॥ दूध, दही, घृत, गोबर, चर्म, हड्डी, सींग, और बालों से सदा उपकार करती हैं ॥ २३ ॥ न इन को सर्दी गर्मी लगती है, ये सदा काम करती हैं, न ही इनको वृष्टि का दुःख होता है ॥२४॥ हे राजन् ! जो इन का दान श्रेष्ठ ब्राह्मणों को देता है, हे राजन् वह विषम अवस्था में पड़ा हुआ भी दुस्तर विपद् से पार हो जाता है ॥ २५ ॥ बुद्धिमान् पुरुष अन्न को ही मनुष्यों के प्राण कहते हैं, अन्न सब जल से महत्त होता है ॥ २६ ॥ इस लिए

(खेती के लिए) जल दान से बढ कर दान नहीं है, धन यश और आयु के देने वाला जलदान कहा है ॥ २७ ॥ वह पुरुष जो वस्त्र दान करता है, और अपनी पत्नी से ही प्रीति वाला है, वह सुन्दर वस्त्रों वाला और सुन्दर वेष वाला होता है ॥ २८ ॥ ये तीनों दान तुल्य ही नाम वाले और तुल्य फल वाले हैं, और सारी कामनाओं के पूरने वाले हैं, गौ, भूमि और सरस्वती (गौ, भूमि, और सरस्वती तीनों को गौ कहते हैं)॥२९॥जो शिष्य को धर्म सिखलाने वाली वेद वाणी की शिक्षा देता है, वह पृथिवी दान और गोदान के तुल्य फल पाता है ॥ ३० ॥

अ० ६ (व० १०४) सदाचार

मूल--शतायुरुक्तः पुरुषः शतवीर्यश्च वैदिके । कस्मान्म्रियन्ते पुरुषा बाला अपि पितामह ॥ १ ॥ आयुष्मान् केन भवति अल्पायुर्वापि मानवः । केन वा लभते कीर्तिं केन वा लभते श्रियं ॥ २ ॥ भी० उ० आचाराल्लभते ह्यायु राचाराल्लभते श्रियं । आचारात्कीर्तिं माप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च ॥ ३ ॥ आचार लक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्र लक्षणाः । साधूनां च यथावृत्तमेतमाचार लक्षणं ॥ ४ ॥ ये नास्तिका निष्क्रियाश्च गुरुशास्त्रातिलंघिनः । अधर्मज्ञा दुराचारास्ते भवन्तिगतायुषः ॥ ५ ॥ विशीला भिन्नमर्यादा नित्यं संकीर्ण मैथुनाः । अल्पायुषो भवन्तीह नरा निरयगामिनः ॥ ६ ॥ अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसकः । अनसूयुर जिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ ७ ॥ ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत । उत्थायचोपतिष्ठेत पूर्वां सन्ध्यां कृताञ्जलिः ॥८॥

एवमेवापरां सन्ध्यां समुपासीत वाग्यतः । ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥ ९ ॥ ये न पूर्वा मुपासन्ते द्विजाः सन्ध्यां न पश्चिमां । सर्वांस्तान् धार्मिको राजा शूद्रकर्माणि कारयेत ॥ १० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे पितामह जब वेदवचन में पुरुष को सौ वर्ष की आयु वाला और बहुत शक्तियों वाला कहा है, तो फिर किस कारण से बाल भी मरजाते हैं ॥ १ ॥ किस से पुरुष दीर्घायु होता है, और किस से अल्पायु होता है, किस से कीर्ति प्राप्त होती है, किस से श्री प्राप्त होती है ॥ २ ॥ भीष्म बोले—आचार से ही आयु बढ़ती है, आचार से ही श्री प्राप्त होती है, आचार से ही पुरुष लोक परलोक में कीर्ति पाता है ॥ ३ ॥ धर्म का बाह्य चिन्ह आचार है, आचार से सत्पुरुष लखे जाते हैं, भले पुरुषों का जो आचरण है, वही आचार का स्वरूप है ॥ ४ ॥ जो नास्तिक, कर्म हीन, गुरु और शास्त्र के वाक्य का उल्लंघन करते हैं, अधर्मी और दुराचारी हैं, वे अल्पायु होते हैं ॥ ५ ॥ जो दुःशील, मर्यादा तोड़ने वाले, व्यभिचारी अनाचारी हैं, वे यहां अल्पायु होकर नरकगामी होते हैं ॥ ६ ॥ जो अक्रोधी सत्यवादी, किसी से द्रोह न करने वाला, असूया रहित और निष्कपट है, वह सौ वर्ष जीता है ॥ ७ ॥ ब्राह्म मुहूर्त में जागे, और उस समय (उपार्जनीय) धर्म अर्थ का विचार करे, और उठ के हाथ जोड़ पूर्वा सन्ध्या उपासे ॥ ८ ॥ इसी प्रकार बाणी को रोक कर सायं सन्ध्या उपासे, ऋषिजन नित्य सन्ध्योपासन से दीर्घ आयु को प्राप्त हुए हैं ॥ ९ ॥ जो

द्विज प्रातः और सायं सन्ध्या नहीं उपासते, धार्मिक राजा उन सब से शूद्रों के कर्म करवाए ॥ १० ॥

मूल—परदारा न गन्तव्याः सर्ववर्णेषु कर्हिचित ॥११॥ नहीदृश मनायुष्य लोके किञ्चन विद्यते । यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनं ॥ १२ ॥ हीनांगानतिरिक्तांगान् विद्याहीनान् वयोऽधिकान । रूपद्राविण हीनांश्च सत्त्वहीनांश्च नाक्षिपेत ॥१३ ॥ नित्यमग्निं परिचरेद् भिक्षांदद्याच्च नित्यदा । वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत ॥ १४ ॥ न चाभ्युदितशायी स्यात् प्रायश्चित्ती तथा भवेत ॥ १५ ॥ माता पितरमुत्थाय पूर्वमेवाभि वादयेत । आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत ॥ १६ ॥ नोदीक्षेत परदारांश्च रहस्येकामनो भवेत । इन्द्रियाणि सदा यच्छेत स्वप्ने शुद्धमना भवेत ॥ १७ ॥ नोत्सृजेत पुरीषं च क्षेत्रे मार्गस्य चान्तिके । उभे मूत्रपुरीषेतु नाप्सु कुर्यात कदाचन ॥ १८ ॥ स्वपत्यं नैव नग्नेन न चोच्छिष्टोपि संविशेत । न संहताभ्यां पाणिभ्यां कण्डूये दात्मनः शिरः ॥ १९ ॥ गुरुणा वैर निर्बन्धो न कर्तव्यः कदाचन । अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥ २० ॥ दूरादावसथान्मूत्रं दूरात पादावसेचनं । उच्छिष्टोत्सर्जनं चैव दूरेकार्यं हितैषिणा ॥ २१ ॥ विपर्ययं न कुर्वीद्वाससो बुद्धिमान्नरः । तथा नान्यधृतं धार्यं न चातिविकृतं तथा ॥२२॥ सायं प्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः । भूमौ सदैव नाश्नीयान्नाशौचं न च शब्दवत ॥ २३ ॥ न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीं । न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत तथायुर्विन्दते महत ॥ २४ ॥ वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्र मनाथा च स्वसा गुरुः । कुलीनः पण्डित इति रक्ष्यानिस्वाः स्वशक्तितः ॥ २५ ॥ धनु-

वेदे च वेदे च यत्नः कार्यो नराधिप । हस्तिपृष्ठेऽश्व पृष्ठे च रथचर्यासु चैव हि ॥ २६॥ पुराण मितिहासाश्च तथाऽऽख्यानानि यानि च । महात्मनां च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते ॥ २७ ॥ ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः । यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविध दक्षिणैः ॥ २८ ॥ अत ऊर्ध्वमरण्यं च सेवितव्यं नराधिप ॥ २९ ॥ एषते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः। शेषस्त्रै विद्य वृद्धेभ्यः प्रत्यहार्यो युधिष्ठिर ॥ ३० ॥

अर्थ—सभी वर्णों में किसी को भी परस्त्रीगामी नहीं होना चाहिये ॥ ११ ॥ पुरुष के लिए जैसा परस्त्रीगमन आयु का घटाने वाला है, लोक में वैसा अनायुष्य और कुछ भी नहीं है ॥ १२ ॥ हीन अंग वाले, अधिक अंग वाले, बुड्ढे, विद्या, रूप, धन वा बल से हीन पुरुषों को न अनादरे ('ओ लंगड़े' इत्यादि शब्दों से न पुकारे) ॥ १३ ॥ नित्य अग्निहोत्र करे, नित्य भिक्षा देवे, और चुपचाप हो कर नित्य दातून करे॥१४॥ सूर्य उदय होने पर सोया न रहे, ऐसी अवस्था में प्रायश्चित्ती होता है ॥ १५ ॥ उठ के माता पिता आचार्य और दूसरे माननीयों को प्रणाम करे, इस से दीर्घ आयु पाता है ॥ १६ ॥परस्त्री को न देखे, एकान्त में अकेला रहे (कोई स्त्री निकट न हो), इन्द्रियों को सदा वश में रक्खे, स्वप्न में भी मन में कोई विकार न आए ॥ १७ ॥ खेती में वा मार्ग के निकट शौच न फिरे, जल में मल मूत्र का त्याग कभी न करे ॥ १८ ॥ न नंगा सोवे, न झूठे मुंह (कुल्ला किये बिना) सोवे, दोनों हाथों से सिर को न खुजावे॥ १९ ॥ गुरु के साथ कभी वैर नहीं बांधना चाहिये, सदा उस का मान करना चाहिये, क्रुद्ध हो, तो प्रसन्न

करना चाहिये ॥ २० ॥ जो अपना हित चाहता है, उसे चाहिये, कि घर से दूर पेशाब करे, दूर ही मैला पानी फैंके, और दूर ही जाके जूठ फैंके ॥ २१ ॥ बुद्धिमान् पुरुष वस्त्र का उलट फेर न करे (धोती को दुपट्टा और दुपट्टे को धोती न बनाए) दूसरे के पहरे वस्त्र को न पहरे, और न अत्यन्त विकृत (फटा पुराना मैला) पहने ॥ २२ ॥ सावधान हो कर सायं प्रातः भोजन करे, मध्य में नहीं, भूमि पर रख कर न खाए, न (केश आदि से) अपवित्र खाए, न शब्द सहित (पचाके मार२कर) खाए ॥ २३ ॥ दिन में मैथुन न करे, न बाला से, न असती से, न विना ऋतुस्नाता से, इस से दीर्घ आयु पाता है ॥ २४ ॥ अपनी ज्ञाति का वृद्ध, मित्र, अनाथ बहिन, और कुलीन पण्डित, ये यदि निर्धन हों, तो अपनी शक्ति अनुसार इन की रक्षा करनी चाहिये ॥ २५ ॥ हे राजन् ! धनुर्वेद, वेद, घोड़े और हाथी की सवारी और रथचर्याओं में यत्न करना चाहिये॥२६॥ हे महाराज ! तुझे पुराण, इतिहास, आख्यान और महात्माओं के चरित्र नित्य सुनने चाहिये ॥ २७ ॥ ज्ञातिजन, सम्बन्धी और मित्र सब भांति पूजनीय हैं, और शक्ति के अनुसार विविध दक्षिणा वाले यज्ञों से यजन करना चाहिये ॥ २८ ॥ इस के अनन्तर हे नरनाथ ! वनवासी होना उचित है ॥ २९ ॥ यह मैंने तुम्हें आयुष्कर कार्यों का संक्षेप कहा है। सविस्तर हे युधिष्ठिर वेदों के जानने वाले पण्डितों से जानो ॥ ३० ॥

अ० ७ (व० १६६-१६८) युधिष्ठिर का गमनागमन और भीष्म का देह त्याग

मूल—अभून्मुहूर्तं स्तिमितं सर्वं तद्राजमण्डलं। तूष्णींभूते

ततस्तस्मिन् पटे चित्र मिवार्पितं ॥ १ ॥ मुहूर्तमिव च ध्यात्वा व्यासः सत्यवती सुतः । नृपं शयानं गांगेय मिदमाह वचस्तदा ॥ २ ॥ राजन् प्रकृतिमापन्नः कुरुराजो युधिष्ठिरः । सहितो भ्रातृभिः सर्वैः पार्थिवैश्चानुयायिभिः ॥ ३ ॥ उपास्ते त्वां नरव्याघ्र सह कृष्णेन धीमता । तमिमं पुरयानाय समनुज्ञातु मर्हसि ॥ ४ ॥ एवमुक्तो भगवता व्यासेन पृथिवीपतिः । उवाच चैनं मधुरं नृपं शान्तनवो नृपः ॥ ५ ॥ प्रविशस्व पुरीं राजन् धर्मे च ध्रियतां मनः । यजस्व विविधैर्यज्ञैर्बह्वन्नैः स्वाप्त दक्षिणैः ॥ ६ ॥ रञ्जयस्व प्रजाः सर्वाः प्रकृतीः परिसान्त्वय । सुहृदः फलसत्कारैरर्चयस्व यथार्हतः ॥ ७ ॥ आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव । विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ॥ ८ ॥ तथेत्युक्त्वा च कौन्तेयः सोऽभिवाद्य पितामहं । प्रययौ सपरिवारो नगरं नागसाह्वयं ॥ ९ ॥

अर्थ—इतना कह कर भीष्म के मौन होजाने पर वह समस्त राजमण्डल पट लिखित चित्र की भांति निश्चल हुआ ॥१॥ अनन्तर थोड़ी देर सोच कर व्यास जी लेटे हुए भीष्म से यह वचन बोले ॥ २ ॥ हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर का चित्त अब ठीक हो गया है, सारे भाइयों और अनुयायी राजाओं तथा श्रीकृष्ण समेत आप के निकट बैठे हैं, अब आप इन्हें नगर जाने की अनुमति दीजिये ॥ ३—४ ॥ भगवान् व्यास के इस वचन को सुन कर राजा भीष्म युधिष्ठिर से यह मधुर वचन बोले॥५॥ हे राजन् ! नगर में प्रवेश करो, अपने कर्तव्य पालने में तुम्हारा मन लगे, और पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञों से यजन करो ॥ ६ ॥ प्रजाओं को प्रसन्न करो, सारी प्रकृतियों को धीरज दो, और

सुहृदों को यथायोग्य सम्मान दो ॥ ७ ॥ हे राजन् ! जब सूर्य दक्षिणायन से हट कर उत्तरायण में आएगा,तब मेरे पास आना, वह मेरा अन्त समय होगा ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर 'तथास्तु' कह कर और पितामह को प्रणाम कर परिवार सहित हस्तिनापुर को लौट गया ॥ ९ ॥

मूल—सोऽभिषिक्तो महाप्राज्ञः प्राप्य राज्यं युधिष्ठिरः । अवस्थाप्य नरश्रेष्ठः सर्वाः स्वप्रकृतीस्तथा ॥ १० ॥ उषित्वा शर्वरीः श्रीमान् पञ्चाशन्नगरोत्तमे । समयं कौरव्याग्र्यस्य सस्मार पुरुषर्षभः ॥ ११ ॥ स निर्ययौ गजपुराद्याजकैः परिवारितः । घृतं माल्यं गन्धांश्चैं क्षौमाणि च युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥ चन्दनागरु मुख्यानि तथा कालागरूणि च । प्रस्थाप्य पूर्वं कौन्तेयो भीष्म संस्करणाय वै ॥ १३ ॥ धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य गान्धारीं च यशस्विनीं । मातरं च पृथां धीमान् भ्रातॄंश्च पुरुषर्षभान् ॥ १४ ॥ जनार्दनेनानुगतो विदुरेण च धीमता । स्तूयमानो महातेजा भीष्मस्याग्नीननुव्रजन् ॥ १५ ॥ आससाद कुरुक्षेत्रे ततः शान्तनवं नृपः ॥ १६ ॥ अभिवाद्य शरतल्पस्थं ऋषिभिः परिवारितं । अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥ युधिष्ठिरोऽहं नृपते नमस्ते जान्हवीसुत । प्राप्तोस्मि समये राजन्नग्नीनादाय ते विभो ॥ १८ ॥ ततश्च बलवान् भीष्मः प्रगृह्य विपुलं भुजं । उद्यन्मेघस्वरो वाग्मी काले वचन मब्रवीत् ॥ १९ ॥ दिष्ट्या प्राप्तोसि कौन्तेय सहामात्यो युधिष्ठिर । परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥ २० ॥ अष्टपञ्चाशतं रात्र्यः शयानस्याद्य मे गताः। शरेषु निशिताग्रेषु यथा वर्षशतं तथा ॥ २१ ॥ माघोयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर । त्रिभागशेषः पक्षोयं शुक्लो भ-

वितु मर्हति ॥ २२ ॥ धृतराष्ट्र मथामन्त्र्य काले वचन मब्रवीत् । राजन् विदित धर्मोसि सुनिर्णीतार्थसंशयः ॥ २३ ॥ वेदांश्च चतुरः सर्वान्निखिलेनावबुध्यसे । न शोचितव्यं कौरव्य भावितव्यं हि तत्तथा ॥२४॥ यथा पाण्डोः सुताराजंस्तथैव तव धर्मतः। तान् पालय स्थितो धर्मे गुरु शुश्रूषणे रतान् ॥ २५ ॥ धर्मराजो हि शुद्धात्मा निदेशे स्थास्यते तव । आनृशंस्यपरं ह्येनं जानामि गुरुवत्सलं ॥ २६ ॥

अर्थ—अभिषिक्त हुए महाराज युधिष्ठिर ने राज्य पा कर और समस्त प्रकृतियों को नियुक्त किया ॥ १० ॥ और नगर में पचास रात्रि तक निवास कर कौरववर पितामह का समय स्मरण किया ॥ ११ ॥ वह ऋत्विजों समेत हस्तिनापुर से बाहर निकले, और भीष्म के संस्कार के निमित्त घृत माला गन्ध पट्ट-वस्त्र उत्तम चन्दन अगर तथा कालागर उन्हों ने अपने चलने से पहले भिजवा दिये ॥ १२—१३ ॥ धृतराष्ट्र, गान्धारी, माता कुन्ती, सारे भाइयों श्रीकृष्ण और विदुर को साथ ले,स्तुतिवचन सुनता हुआ भीष्म की अग्नियों के पीछे चलने लगा ॥ १४—१५॥और कुरुक्षेत्र में पितामह के निकट पहुंचे ॥ १६ ॥ शरशय्या पर लेटे हुए ऋषियों से घिरे हुए भीष्म को प्रणाम कर धर्मराज युधिष्ठिर बोले ॥ १७ ॥ हे पितामह ! मैं युधिष्ठिर आप को प्रणाम करता हूं, हे विभो ! मैं आप की आग्नियें ले कर समय पर उपस्थित हुआ हूं ॥ १८ ॥ तब उस की विशाल भुजा को ग्रहण कर बलवान् वाग्मी भीष्म मेघ गम्भीर स्वर से समयोचित वचन बोले ॥ १९ ॥ हे कौन्तेय ! भाग्य से तुम साथियों समेत आ उपस्थित हुए हो, अनन्त किरणों वाला भगवान् सूर्य पलट गया

है ॥ २० ॥ तीखी नोकों वाले बाणों पर लेटे हुए आज मुझ को ५८ रातें बीत गई हैं, मानों जैसे सौ बरस बीते हों ॥ २१ ॥ हे युधिष्ठिर यह चान्द्र माघ मास उपस्थित है, और अब शुक्लपक्ष का तीसरा भाग शेष है ॥ २२ ॥ इतना कह कर फिर धृतराष्ट्र से समयोचित वचन बोले, हे राजन् ! तुम धर्म को जानते हो,सब विषयों में तुम संदेहों को मिटा कर निर्णीत विषय समझ चुके हो ॥ २३ ॥ चारों वेदों को यथावत् जानते हो,सो हे कुरुराज ! कोई शोक न करो, यह ऐसा ही होना था ॥ २४ ॥ हे महाराज ! पाण्डु के पुत्र धर्म से तुम्हारे पुत्र ही हैं, इस लिए तुम धर्मानुसार इन का पालन करो, ये आप की सेवा में तत्पर रहें ॥ २५ ॥ धर्मराज शुद्ध चित्त है, आप की आज्ञा में रहेगा, मैं इसे जानता हूं,कि दयापरायण और गुरुओं का हितैषी है॥२६॥

मूल–एतदुक्त्वा वचनं तु धृतराष्ट्रं मनीषिणं । वासुदेवं महाबाहु मभ्यभाषत कौरव ॥ २७ ॥ अनुजानीहि मां कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम । रक्ष्याश्च ते पाण्डवेया भवान् येषां परायणं॥२८॥ वासुदेव उवाच–पितृभक्तोसि राजर्षे मार्कण्डेय इवापरः । तेन मृत्युस्तव वशे स्थितो भृत्य इवानतः॥ २९ ॥ एवमुक्तस्तु गांगेयः पाण्डवानिद मब्रवीत् । धृतराष्ट्र मुखांश्चापि सर्वांश्च सुहृदस्तथा ॥ ३० ॥ प्राणानुत्स्रष्टु मिच्छामि तत्रानुज्ञातु मर्हथ । सत्येषु यतितव्यं वः सत्यं हि परमं बलं ॥ ३१ ॥ आनृशंस्यपरैर्भाव्यं सदैव नियतात्मभिः । ब्रह्मण्यैर्धर्मशीलैश्च तपोनित्यैश्च भारताः इत्युक्त्वा सुहृदः सर्वान् संपरिष्वज्य चैव ह । तूष्णीं बभूव कौरव्यः समुहूर्तं अरिन्दम ॥ ३३ ॥ धारयामास चात्मानं धारणासु यथाक्रमं । तस्योर्ध्व मगमन् प्राणाः सन्निरुद्धा महात्मनः ॥ ३४ ॥

सन्निरुद्धस्तु तेनात्मा सर्वेष्वायतनेषु च । जगाम भित्त्वा मूर्धानं दिवमभ्युत्पपात ह ॥ ३५ ॥ एवं स राजशार्दूल नृपः शान्तनवस्तदा । समयुज्यत कालेन भरतानां कुलोद्वहः ॥ ३६ ॥ ततस्त्वादाय दारूणि गन्धांश्च विविधान् बहून् । चितां चक्रुर्महात्मानः पाण्डवा विदुरस्तथा ॥ ३७ ॥ युधिष्ठिरश्च गांगेयं धृतराष्ट्रश्च दुःखितौ । छादयामासतुरुभौ क्षौमैर्माल्यैश्च कौरवं ॥३८॥ त...ऽस्य विधिवच्चक्रुः पितृमेधं महात्मनः । याजका जुहुवुश्चाग्नौ जगुः सामानि सामगाः ॥ ३९ ॥ ततश्चन्दन काष्ठैश्च तथा कालीयकैरपि । कालागुरुप्रभृतिभिर्गन्धैश्चोच्चावचैस्तथा ॥ ४० ॥ समवच्छाद्य गांगेयं संप्रज्वाल्य हुताशनं । अपसव्यमकुर्वन्त धृतराष्ट्र मुखाश्चितं ॥ ४१ ॥ संस्कृत्य च कुरुश्रेष्ठं गांगेयं कुरुसत्तमाः । जग्मुर्भागीरथीं पुण्यामृषिजुष्टां कुरूद्वहाः ॥ ४२ ॥ उदकं चक्रिरे सर्वे गांगेयस्य महात्मनः । विधिवत क्षत्रियश्रेष्ठाः स च सर्वो जनस्तदा ॥ ४३ ॥

अर्थ—बुद्धिमान् धृतराष्ट्र को इतनी बात कह कर भीष्म महाबाहु कृष्ण से बोले ॥ २७ ॥ हे कृष्ण हे पुरुषोत्तम अब मुझे अनुज्ञा दीजिये, पाण्डवों के आप अवलम्बन हैं, उन की सदा रक्षा करते रहिये ॥ २८ ॥ श्रीकृष्ण बोले—हे राजर्षे! तुम पितृभक्त मानो दूसरे मार्कण्डेय हो, इस से मृत्यु आज्ञाकारी नौकर की भांति आप के वश में है ॥ २९ ॥ यह सुन भीष्म पाण्डवों से और धृतराष्ट्र आदि सारे सुहृदों से बोले ॥ ३० ॥ अब मैं प्राण छोड़ने चाहता हूं, मुझे अनुमति दीजिये, तुम सब ने सत्य में यत्नवान् रहना, सत्य असली बल है ॥ ३१ ॥ सदा दयापरायण रहना, सदा अपने आप को वस में रखना, सदा वेदप-

रायण धर्मशील और तप प्रधान रहना ॥ ३२ ॥ इतनी बात सब सुहृदों को कह कर और गले लगा कर मुहूर्त भर चुप हुआ ॥ ३३ ॥ फिर उस ने यथाक्रम सारी धारणाओं में आत्मा की धारणा की, उस के निरुद्ध हुए प्राण ऊपर को चढ़े ॥ ३४ ॥ तब सारे स्रोतों से मन को रोक कर मूर्धा में पहुंचा, मूर्धा को फोड़ कर द्यौलोक को उड़ गया ॥ ३५ ॥ इस प्रकार वह भरतकुलभूषण राजसिंह शान्तनु पुत्र कालधर्म से युक्त हुए ॥ ३६ ॥ अनन्तर महात्मा पाण्डवों ने और विदुर ने काष्ठ और भांति २ के गन्ध ले कर चिता बनाई ॥ ३७ ॥ दुःखित युधिष्ठिर और धृतराष्ट्र दोनों ने पट्ट वस्त्रों और मालाओं से भीष्म को ढांप दिया ॥ ३८ ॥ अनन्तर सब ने मिल कर उस महात्मा का पितृमेध (अन्त्येष्टि) किया, याजकों ने अग्नि में होम किये, सामगों ने साम गाए ॥ ३९ ॥ चन्दन, कालीयक, कालागर, और कई प्रकार के गन्धों से भीष्म को छादन कर अग्नि को प्रज्वलित कर धृतराष्ट्र आदि ने चिता की प्रदक्षिणा की ॥ ४०—४१ ॥ भीष्म का संस्कार कर के वे कुरुवर ऋषियों से सेवित पवित्र गंगा पर गए ॥४२॥ वहां सब क्षत्रियों ने यथाविधि महात्मा भीष्म का उदक कर्म किया ॥ ४३ ॥

अनुशासनपर्व समाप्त हुआ ॥



अश्वमेध पर्व १४

अ० १ (श्लो० १—५२) कृष्ण का द्वारका गमन.

मूल—कृतोदकस्तु राजानं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः । पुरस्कृत्य महाबाहु रुत्ततार कुलेन्द्रियः ॥ १ ॥ उत्तीर्य तु महाबाहुर्बाष्प व्याकुल लोचनः । पपात तीरे गंगाया व्याधविद्ध इव द्विपः॥२॥ राजा तु धृतराष्ट्रश्च पुत्र शोकाभि पीडितः । वाक्यमाह महाबुद्धिः प्रज्ञाचक्षुर्युधिष्ठिरं ॥ ३ ॥ उत्तिष्ठ कुरुशार्दूल कुरुकार्य मनन्तरं । शोचितव्यं न पश्यामि त्वया धर्मभृतांवर ॥ ४ ॥ शोचितव्यं मया चैव गान्धार्या च महीपते । ययोः पुत्रशतं नष्टं स्वप्नलब्धं यथा धनं ॥ ५ ॥ वासुदेव उवाच—श्रुताश्च राजधर्मास्ते भीष्माद् भागीरथी सुतात् । नेमामर्हसि मूढानां वृत्तिं त्वमनु वर्तितुं ॥ ६ ॥ पितृपैतामहं वृत्त मास्थाय धुरमुद्वह । न शक्यास्ते पुनर्द्रष्टुं त्वया येऽस्मिन्नणे हताः ॥ ७ ॥ व्यास उवाच—आत्मानं मन्यसे चाथ पाप कर्माण मन्ततः । शृणु तत्र यथा पापमपकृष्येत भारत ॥ ८ ॥ यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिपापूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृत कारिणः ॥ ९ ॥ यजस्व वाजिमेधेन विधिवद् दक्षिणावता । बहुकामान्नवित्तेन रामो दाशरथिर्यथा ॥ १० ॥ यु० उ० असंशयं वाजिमेधः पावयेत्पृथिवीमपि । अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तं त्वं श्रोतु मिहार्हसि ॥ ११ ॥ इमं ज्ञातिवधं कृत्वा सुमहान्तं द्विजोत्तम । दानमल्पं न शक्नोमि दातुं वित्तं च नास्ति मे॥ १२ ॥ न तु बालानिमान् दीनानुत्सहे वसु याचितुं । तथैवार्द्र व्रणान् कृच्छ्रे वर्तमानान्नृपात्मजान् ॥ १३ ॥ स्वयं विनाश्य पृथिवीं यज्ञार्थे द्विजसत्तम । करमाहारयिष्यामि कथं शोकपरायणः ॥ १४ ॥

अर्थ—जलक्रिया कर के राजा धृतराष्ट्र को आगे कर के व्याकुल इन्द्रियों वाले महाबाहु युधिष्ठिर बाहर निकले ॥ १ ॥ बाहर निकल आंसुओं से भरे नेत्रों वाला वह महाबाहु व्याध से विन्धे हुए हाथी की भांति तट भूमि पर गिर पड़ा ॥ २ ॥ पुत्र शोक से पीड़ित महाबुद्धि प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से बोले ॥ ३ ॥ उठ हे कुरुसिंह अगले कार्य को करो, हे धर्मधारियों में श्रेष्ठ तेरे लिए शोक का कारण नहीं देखता हूं ॥ ४ ॥ हे राजन् शोक का विषय तो मेरे लिए और गांधारी के लिए है, जिनका कि सौ पुत्र इस तरह नष्ट होगया, जैसे स्वप्न में पाया धन ॥ ५ ॥ श्रीकृष्ण बोले—हे राजन् आपने गंगापुत्र भीष्म से राजधर्म सुने हैं, इस समय मूढ़ों की वृत्ति पर आपको नहीं चलना चाहिये॥ ६ ॥ पिता पितामह के वृत्त का आश्रय ले कर राज्य भार को उठाओ, उन को अब (शोक कर के) कभी भी देख नहीं सकते हो, जो इस रण में मारे गए हैं ॥ ७ ॥ व्यास बोले- (हे राजन् ! अपने धर्म को पालते हुए अपनों के मारने में भी तुम पापी नहीं हो) पर यदि तुम अपने को पापकर्मा ही मानते हो, तब हे भारत ! सुनिये, जिस प्रकार पाप दूर हो॥८॥ हे नरशार्दूल दुष्कर्मकारी जन यज्ञ से, तप से और दान से शुद्ध होते हैं ॥ ९ ॥ सो तुम दशरथसुत राम की भांति बड़ी दक्षिणा वाले यथेष्ट अन्न धन आदि के दान वाले अश्वमेध से यजन करो ॥१०॥ युधिष्ठिर बोले—निःसंदेह अश्वमेध पृथिवी को भी पवित्र कर सकता है, किन्तु मेरा एक अभिप्राय है, उस को आप सुन लीजिये ॥ ११ ॥ हे द्विजवर ! यह बहुत बड़ा ज्ञातिवध कर के अब (उस के प्रायश्चित्त में) दान थोड़ा नहीं दे सकता हूं, और

धन मेरे पास है नहीं ॥ १२ ॥ और ये जो राजाओं के पुत्र दीन बाल हैं, जिन के घाव (पिता आदि की मृत्यु के घाव) अभी गीले हैं, इन से धन नहीं मांग सकता हूं ॥१३ ॥ हे द्विजवर स्वयं पृथिवी का नाश कर के अब कैसे शोकपरायण हुआ यज्ञ के लिए उन से कर लाऊं ॥ १४ ॥

मूल—व्यास उवाच—विद्यते द्रविणं पार्थ गिरौ हिमवति स्थितं । उत्सृष्टं ब्राह्मणैर्यज्ञे मरुत्तस्य महीपते ॥ ५ ॥ तदानयस्व कौन्तेय पर्याप्तं तद् भविष्यति ॥ १६ ॥ एवं बहुविधैर्वाक्यैर्मुनिभिस्तैस्तपोधनैः । समाश्वास्यत राजर्षिर्हतबन्धुर्युधिष्ठिरः ॥१७॥ ततो दत्त्वा बहुधनं विप्रेभ्यः पाण्डवर्षभः । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विवेश गजसाह्वयं ॥ १८ ॥ स समाश्वास्य पितरं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरं । अन्वशासत धर्मात्मा पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥ १९ ॥ समासाद्य तु राजानं वार्ष्णेयकुरुपुंगवौ । निषीदतुरनुज्ञातौ प्रीयमाणेनतेनतौ ॥ २० ॥ अर्जुन उवाच—अयं चिरोषितो राजन् वासुदेवः प्रतापवान् । भवन्तं समनुज्ञाप्य पितरं द्रष्टुमिच्छति ॥ २१ ॥ यु० उ०—रोचते मे महाबाहो गमनं तव केशव । मातुलश्चिरदृष्टो मे त्वया देवी च देवकी ॥ २२ ॥ समेत्य मातुलं गत्वा बलदेवं च मानद । पूजयेथा महाप्राज्ञ मद्वाक्येन यथार्हतः ॥ २३ ॥ आनर्तानवलोक्य त्वं पितरं च महाभुज । वृष्णींश्च पुनरागच्छेर्हय मेधे ममानघ ॥ २४ ॥ स गच्छ रत्नान्यादाय विविधानि वसूनि च। यच्चाप्यन्यन्मनोज्ञं ते तदप्यादत्स्व सात्वत॥२५॥ इयं च वसुधा कृत्स्ना प्रसादात्तव केशव । अस्मानुपागता वीर निहताश्चापि शत्रवः ॥ २६ ॥ एवं ब्रुवति कौरव्ये धर्मराजे यु-

धिष्ठिरे। वासुदेवो वरः पुंसा मिदं वचनमब्रवीत् ॥ २७ ॥ तवैव रत्नानि धनं च केवलं धरा तु कृत्स्ना तु महाभुजाद्यवै। यदस्ति चान्यद् द्रविणं गृहे मम त्वमेव तस्येश्वर नित्यमीश्वरः ॥ २८ ॥ रथे सुभद्रा माधिरोप्य भामिनीं युधिष्ठिरस्यानुमते जनार्दनः। पितृश्वसुश्चापि तथा महाभुजो विनिर्ययौ राजजनाभिसंवृतः ॥ २९ ॥ तमन्वयाद् वानरवर्यकेतनः स सात्यकिर्माद्रवती सुतावपि। अगाधबुद्धिर्विदुरश्च माधवं स्वयं च भीमो गजराजविक्रमः ॥ ३० ॥ निवर्तयित्वा कुरुराष्ट्र वर्धनांस्ततः स सर्वान् विदुरं च वीर्यवान्। ततो ययौ शत्रुगणप्रमर्दनः शिनिप्रवीरानुगतो जनार्दनः ॥३१॥

अर्थ–व्यास बोले–हे युधिष्ठिर ! धन हिमालय पर्वत पर रक्खा हुआ है, जो राजा मरुत्त के यज्ञ में ब्राह्मणों ने छोड़ दिया था ॥ १५ ॥ उस को हे कौन्तेय लाओ, वह पर्याप्त होगा॥१६॥ इसी प्रकार तपोधन मुनियों ने हतबन्धु राजा युधिष्ठिर को शांति के वाक्यों से धीरज बन्धाया ॥ १७ ॥ तब युधिष्ठिर ब्राह्मणों को बहुतसा धन दे कर धृतराष्ट्र को आगे कर हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुआ ॥ १८ ॥ प्रज्ञाचक्षु पिता को धीरज दे कर भाइयों समेत पृथिवी का शासन करने लगा ॥ १९ ॥ फिर कुछ दिनों के पीछे कृष्ण और अर्जुन युधिष्ठिर के पास आए, युधिष्ठिर की प्रसन्नता और आज्ञा पा कर बैठे ॥ २० ॥ तब अर्जुन बोले–हे राजन् ! प्रतापी श्रीकृष्ण यहां बहुत दिन रहे हैं, अब आप से अनुज्ञा ले कर पिता के दर्शन करना चाहते हैं ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर बोले–हे महाबाहो केशव ! आप का गमन अब उचित ही है, मेरे मामाजी को देखे और देवी देवकी को देखे आप को चिर होगया है ॥ २२ ॥ वहां जा कर मामा जी

को और बलदेव को मिल कर मेरे वचन से यथायोग्य पूजना ॥ २३ ॥ और हे महाभुज पिता जी के दर्शन कर, तथा आनर्तों और यादवों को देख कर फिर मेरे अश्वमेध पर आजाना ॥२४॥ सो तुम विविध रत्न और धन ले कर जो कुछ आप को प्रिय हो, हम से भेंट ले कर चलो ॥ २५ ॥ हे केशव ! यह सारा पृथिवी आप की कृपा से हमें प्राप्त हुई है और आप की कृपा से शत्रु मारे गए हैं ॥ २६ ॥ राजा युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण बोले ॥ २७ ॥ हे महाभुज आप के ही रत्न धन और पृथिवी है, और भी जो मेरे घर में धन है, उस सब के आप ही ईश्वर हैं ॥ २८ ॥ तब युधिष्ठिर की और फूफी की अनुज्ञा ले सुभद्रा को भी रथ पर चढा कर राजपुरुषों से घिरे हुए श्रीकृष्ण बाहर निकले ॥२९॥ अर्जुन, सात्यकि और माद्रीपुत्र, अगाध बुद्धि विदुर, और महा पराक्रमी भीम उस के पीछे चले ॥ ३० ॥ तब वह शक्तिमान् कृष्ण कुरुवरों और विदुर को लौटा कर यादव वीरों से घिरा हुआ द्वारका को गया ॥ ३१ ॥

अ०२ (व० ६३-७१) परीक्षित का जन्म

मूल--कृत्वा तु पाण्डवाः सर्वे रत्नाहरणनिश्चयं । सेनामाज्ञापयामासुः प्रययुर्मुदिता भृशं ॥ १ ॥ सरांसि सरितश्चैव वनान्युपवनानि च । प्रत्यक्रामन्महाराजो गिरिं चाप्यन्वपद्यत ॥२॥ तस्मिन् देशे च राजेन्द्र यत्र तद् द्रव्य मुत्तमं चक्रे निवेशनं राजा पाण्डवः सह सैनिकैः ॥ ३ ॥ प्रीतिमान् स कुरुश्रेष्ठः खानयामास तद्धनं ॥ ४ ॥ ततः पात्रीः सकरका बहुरूपा मनोरमाः । भृंगाराणि कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् ॥ ५ ॥ बहूनि च विचित्राणि भाजनानि सहस्रशः । उद्धारयामास तदा धर्मराजो

युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥ सा पुराभिमुखा राजन्नुवाह महतीचमूः । कृच्छ्राद् द्रविणभारार्ता हर्षयन्ती कुरूद्वहान् ॥ ७ ॥ एतस्मिन्नेव काले तु वासुदेवोऽपि वीर्यवान् । उपायाद् वृष्णिभिः सार्धं पुरं वारणसाह्वयं ॥ ८ ॥ समयं वाजिमेधस्य विदित्वा पुरुषर्षभः । बलदेवं पुरस्कृत्य सुभद्रासहितस्तदा ॥ ९ ॥ गतस्तु वृष्णिवीरेषु तत्राथ जनमेजय । जज्ञे तव पिता राजन् परीक्षित् परवीरहा ॥ १० ॥ स तु राजा महाराज ब्रह्मास्त्रेणावपीडितः । शवो बभूव निश्चेष्टो हर्षशोकविवर्धनः । ततः सोऽतित्वरः कृष्णो विवेशान्तः पुरं तदा ॥ ११ ॥ ततस्त्वरितमायान्तीं ददर्श स्वां पितृष्वसां । क्रोशन्तीमभिधावेति वासुदेवं पुनः पुनः ॥ १२ ॥ ततः स प्राविशत् तूर्णं जन्मवेश्म पितुस्तव । आर्चितं पुरुषव्याघ्र सितैर्माल्यैर्यथाविधि॥१३॥ द्रौपदी त्वरितं गत्वा वैराटिं वाक्य मब्रवीत् । अयमायाति ते भद्रे श्वशुरो मधुसूदनः ॥ १४ ॥ सापि बाष्पकलां वाचं निगृह्याश्रूणि चैव ह । दृष्ट्वा गोविन्द मायान्तं कृपणं पर्यदेवयत् ॥ १५ ॥ आसीन्मम मतिः कृष्ण पूर्णोत्संगा जनार्दन । अभिवादयिष्ये त्वां कृष्ण तदिदं वितथीकृतं ॥ १६ ॥ एवं विलप्य करुणं सोन्मादेव तपस्विनी । उत्तराऽन्यपतद् भूमौ कृपणा पुत्रगृद्धिनी ॥१७॥ तां तु दृष्ट्वा निपतितां हतपुत्र परिच्छदां । चुक्रोश कुन्ती दुःखार्ता सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ १८ ॥ प्रतिलभ्य तु सा संज्ञा मुत्तरा भरतर्षभ । अंकमारोप्य तं पुत्र मिदं वचनमब्रवीत् ॥ १९ ॥ धर्मज्ञस्य सुतः सत्त्वमधर्मं नावबुध्यसे । यस्त्वं वृष्णिप्रवीरस्य कुरुषे नाभिवादनं ॥ २० ॥ श्रुत्वा स तस्या विपुलं विलापं पुरुषर्षभः । उपस्पृश्य ततः कृष्णो ब्रह्मास्त्रं प्रत्यसंहरत् ॥ २१ ॥ पस्पर्श पुण्डरीकाक्ष आपादतलमस्तकं । शनैः शनैर्महाराज प्रास्पन्दत स चेतनः ॥ २२ ॥

अर्थ—अब पाण्डव सारे रत्नों के लाने का निश्चय करके सेना को आज्ञा देते भये, और प्रसन्न हो कर स्वयं गए ॥ १ ॥ सरोवर, नदी, वन, उपवनों को लांघ कर महाराज पर्वत पर, उस स्थान में जा पहुंचे, जहां वह उत्तम धन दबा पड़ा था, राजा युधिष्ठिर ने सैनिकों समेत वहां छावनी डाली ॥ २—३ ॥ प्रसन्न हो कर राजा ने उस धन को खुदवाया ॥४॥ तब अनेक प्रकार की मनोरम पात्रियें, करक, भृंगार, कटाह, कलश, वर्धमानक, ऐसे ही और सहस्रों विचित्र भाजन धर्मराज युधिष्ठिर ने निकलवाये ॥ ५—६ ॥ वह बड़ी सेना हे राजन् पाण्डवों को हर्षित करती हुई, धन भार से पीडित हुई बड़ी कठिनाई से लौटी॥७॥ इसी समय अश्वमेध का समय जान कर श्रीकृष्ण भी बलदेव और सुभद्रा को आगे कर के हस्तिनापुर आ पहुंचे ॥ ८—९ ॥ हे जनमेजय ! यादव वीरों के वहां रहते हुए, शत्रुवीरों के मारने वाले आप के पिता परीक्षित का जन्म हुआ ॥ १० ॥ हे महाराज ! ब्रह्मास्त्र से पीड़ित हुआ वह बाल मुर्दे का सा निश्चेष्ट हो गया, * जिस से हर्ष और शोक दोनों इकट्ठे हुए, उसी समय कृष्ण शीघ्रता से अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए ॥ ११ ॥ आगे से शीघ्रता से आती अपनी फूफी को देखा, जो कृष्ण को बार २ 'जल्दी दौड़ो' कह कर पुकारने लगी ॥१२॥ तब वह आप के पिता के जन्मगृह में प्रविष्ट हुए, जो कि श्वेत मालाओं से यथा-विधि सजा हुआ था ॥ १३ ॥ द्रौपदी ने झट जा कर उत्तरा को कहा, हे भद्रे यह तेरे श्वशुर कृष्ण जी आए हैं ॥ १४ ॥ वह

---

*यह उस ब्रह्मास्त्र का प्रभाव बतलाया गया है, जो अश्वत्थामा ने चलाया था, यह सम्भव है वा नहीं, यह बुद्धिमान् स्वयं विचारें।

आते कृष्ण को देख कर आंसुओं को रोक कर गद्गद वाणी से विलाप करने लगी ॥ १५ ॥ हे कृष्ण मेरा विचार था गोदी में बालक को ले कर तुझे अभिवादन कराऊंगी, वह मेरा मनोरथ झूठा होगया है ॥ १६ ॥ इस प्रकार करुण विलाप कर के पुत्र की अभिलाषा वाली दीन हुई उत्तरा बेचारी उन्मत्ता की भांति भूमि पर गिर पड़ी ॥ १७॥ मरे पुत्र वाली उत्तरा को इस प्रकार गिरी देख कर दुःख से पीड़ित हुई सभी भरतनारियें रोने लगीं ॥ १८ ॥ हे भरतवर ! उत्तरा होश में आ कर उस बेटे को गोदी में ले कर यह वचन बोली ॥ १९ ॥ धर्मज्ञ का पुत्र हो कर तू इस अधर्म को क्या नहीं जानता है, जो तू यादववीर को अभिवादन नहीं करता है ॥ २० ॥ उस के विपुल विलाप को सुन कर कृष्ण ने उस को हाथ से छूकर ब्रह्मास्त्र का प्रतिसंहार किया ॥ २१ ॥ कृष्ण ने पादतल से ले कर मस्तक पर्यन्त सारे अंगों को स्पर्श किया, तब धीरे २ हे महाराज वह बाल सचेतन हो कर हिलने लगा ॥ २२ ॥

मूल—ब्रह्मास्त्रं तु यदा राजन् कृष्णेन प्रतिसंहृतं । तदा तद्वेश्म ते पित्रा तेजसाभिविदीपितं ॥ २३ ॥ बभूवुर्मुदिता राजंस्ततस्ता भरतास्त्रियः । ब्राह्मणान् वाचयामासुर्गोविन्दस्यैव शासनात् ॥ २४ ॥ ततस्ता मुदिताः सर्वाः प्रशशंसुर्जनार्दनं । स्त्रियो भरतसिंहानां नावं लब्ध्वेव पारगाः॥ २५ ॥ उत्थाय तु यथाकालमुत्तरा यदुनन्दनं । अभ्यवादयत प्रीता सह पुत्रेण भारत ॥ २६ ॥ ततस्तस्मै ददौ प्रीतो बहुरत्नं विशेषतः । तथैव वृष्णिशार्दूलो नाम चास्या करोत् प्रभुः ॥ २७ ॥ परिक्षीणे कुले यस्माज्जातोऽयम-

भिमन्युजः । परिक्षिदिति नामास्य भवत्वित्य ब्रवीत्तदा ॥ २८ ॥
मासजातस्तु ते वीर पिता भवति भारत । अथाजग्मुः सुबहुकं
रत्नमादाय पाण्डवाः ॥ २९ ॥ तान् समीपगताञ्छ्रुत्वा निर्ययुर्वृ-
ष्णि पुंगवाः । अलंचक्रुश्च माल्यौघैर्नगरं नागसाह्वयं ॥३०॥ पता-
काभिर्विचित्राभिर्ध्वजैश्च विविधैरपि । वेश्मानि समलंचक्रुः पौरा-
श्चापि जनेश्वर ॥ ३१ ॥ राजमार्गाश्च तत्रासन् सुमनोभिरलंकृताः
॥ ३२ ॥ ते समेत्य यथाधर्मं पाण्डवा वृष्णिभिः सह । विविशुः
सहिता राजन् पुरं वारणसाह्वयं ॥ ३३ ॥ ते समेत्य यथान्यायं
धृतराष्ट्रं जनाधिप । कीर्तयन्तः स्वनामानि तस्य पादौ ववन्दिरे
॥ ३४ ॥ धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाता गान्धारीं सुबलात्मजां । कुन्तीं च
राजशार्दूल तदा भरतसत्तम ॥ ३५ ॥ विदुरं पूजयित्वा तु वैश्या-
पुत्रं समेत्यच । शुश्रुवुस्ते तदा वीराः पितुस्ते जन्म भारत ॥३६॥
तदुपश्रुत्य तत्कर्म वासुदेवस्य धीमतः । पूजार्हं पूजयामासुः कृष्णं
देवकीनन्दनं ॥ ३७॥ ततः कतिपयाहस्य व्यासः सत्यवती सुतः।
आजगाम महातेजा नगरं नागसाह्वयं ॥ ३८ ॥ तस्य सर्वे यथा-
न्यायं पूजां चक्रुः कुरूद्वहाः । सह वृष्ण्यन्धक व्याघ्ररुपासां चक्रिरे
तदा ॥ ३९ ॥ यु० उ० भवत्प्रसादाद् भगवन् यदिदं रत्नमाहृतं।
उपयोक्तुं तदिच्छामि वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ४० ॥ व्या० उ०
अनुजानामि राजंस्त्वां क्रियतां यदनन्तरं । यजस्व वाजिमेधेन
विधिवद् दक्षिणावता ॥ ४१ ॥ इत्युक्तः स तु धर्मात्मा कुरुराजो
युधिष्ठिरः । वासुदेव मथाभ्येत्य वाग्मी वचन मब्रवीत् ॥ ४२ ॥
देवकी सुप्रजा देवी त्वया पुरुषसत्तम । यद् ब्रूयां त्वां महाबाहो
तत्कुरुष्वमिहाच्युत ॥ ४३ ॥ पराक्रमेण बुद्ध्या च त्वयेयं नि-

जिता मही । दीक्षयस्व त्वमात्मानं त्वं हि नः परमोगुरुः ॥ ४४ ॥
वा० उ० त्वमेवै तन्महाबाहो कर्तुमर्हस्यरिन्दम । गुणीभूताः स्म
ते राजंस्त्वं नो राजन् गुरुर्मतः ॥ ४५ ॥ यजस्व मदनुज्ञातः प्राप्य
एष क्रतुस्त्वया ।युनक्तु नो भवान् कार्ये यत्र वाञ्छसि भारत ४६

अर्थ—हे राजन् जब श्रीकृष्ण ने ब्रह्मास्त्र का प्रतिसंहार कर दिया, तब वह मन्दिर आप के पिता के तेज से प्रकाशवान् होगया ॥ २३ ॥ तब सब भरतनारियें प्रसन्न हुईं, और कृष्ण की आज्ञा से ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवाया ॥ २४॥ पार जाने वाले जिस प्रकार नौका को पाकर,इस प्रकार प्रसन्न हुईं वे भरतसिंहों की स्त्रियें कृष्ण की प्रशंसा करती भईं ॥ २५ ॥ उत्तरा ने यथा समय पुत्र सहित उठ कर श्रीकृष्ण को अभिवादन किया ॥ २६ ॥ यादववर ने प्रसन्न हो कर उस को बहुत से रत्न दिये, और इस का नामकरण किया ॥ २७ ॥ श्रीकृष्ण ने कहा, कि कुल के क्षीण होने पर यतः यह अभिमन्युपुत्र उत्पन्न हुआ है, इस लिए इस का नाम परीक्षित हो ॥ २८ ॥ हे वीर जब आप का पिता महीने का हो गया, तब बहुत से रत्न ले कर पाण्डव आ गए ॥ २९ ॥ उन को निकट आये सुन कर यादववर उन को लेने के लिए आगे गए, और मालाओं से पुर को सजाया ॥ ३० ॥ पुरवासियों ने भी भांति २ के झंडे झंडियों से अपने २ घर सजाए, और सुन्दर फूलों से राजमार्ग सजाए गए ॥ ३१—३२ ॥ पाण्डव यथायोग्य यादवों के साथ मिल कर हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए॥३३॥फिर उन्होंने यथाविधि धृतराष्ट्र की सेवा में उपस्थित हो कर अपने २ नाम कह कर उस के पादवन्दन किये ॥ ३४ ॥ धृतराष्ट्र से अनुज्ञा ले कर

गान्धारी कुन्ती और विदुर की पूजा की, फिर युयुत्सु से मिले। और हे भारत तब उन वीरों ने आप के पिता का जन्म सुना ॥ ३५–३६॥ बुद्धिमान् कृष्ण के कार्य को सुन कर उस पूजाई की पूजा की ॥ ३७ ॥ तब कुछ दिनों के पीछे सत्यवतीपुत्र व्यास हस्तिनापुर में आए ॥ ३८ ॥ सब कौरवों ने उन की पूजा की और यादववीरों समेत उन की सेवा में बैठे ॥ ३९ ॥ युधिष्ठिर बोले–हे भगवन्! आप की कृपा से यह जो रत्नसमूह लाया हूं, अब इस को महायज्ञ अश्वमेध में लगाना चाहता हूं॥ ४० ॥ व्यास बोले–हे राजन् तुझे अनुज्ञा देता हूं, अब अगला कार्य करो, दक्षिणायुक्त अश्वमेध से यथाविधि यजन करो ॥ ४१ ॥ कुरुराज धर्मात्मा युधिष्ठिर यह सुन कर कृष्ण के पास आ कर यह मधुर वचन बोले ॥ ४२ ॥ हे पुरुषोत्तम ! देवकी आप से सपुत्रा है, हे महाबाहो, जो कुछ मैं आप को कहता हूं, उसे कीजिये ॥ ४३ ॥ आपने ही पराक्रम और बुद्धि से यह भूमि जीती है, सो आप यज्ञ की दीक्षा ग्रहण करें,आप ही हमारे परमगुरु हैं ॥ ४४ ॥ श्रीकृष्ण बोले–हे महाबाहो!आप ही यह करने योग्य हैं, हे राजन् हम आप के आज्ञाकारी हैं,आप हमारे गुरु हैं॥४५॥ मेरी अनुमति है, यजन कीजिये, यह यज्ञ आप को प्राप्त हुआ है। हे भारत ! आप जिस कार्य में चाहते हैं, हमें लगाइये,सत्य प्रतिज्ञा करता हूं ॥ ४६ ॥

अ० ३ (व० ७२-) अश्वमेध यज्ञ का आरम्भ

मूल–एवमुक्तस्तु कृष्णेन धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः । व्यासमामन्त्र्य मेधावी ततो वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥ यदा कालं भवान् वेत्ति

हयमेधस्य तत्त्वतः । दीक्षयस्व तदा मां त्वं त्वय्यायत्तो हि मे
क्रतुः ॥ २ व्यास उवाच–अहं पैलोऽथ कौन्तेय याज्ञवल्क्यस्तथैव
च । विधानं यद्यथाकालं तत्कर्तारो न संशयः ॥ ३ ॥ चैत्र्यां
हि पौर्णमास्यां तु तव दीक्षा भविष्यति । संभाराः संभ्रियन्तां च
यज्ञार्थं पुरुषर्षभ ॥ ४ ॥ अश्वविद्याविदश्चैव सूता विप्राश्च तद्वि-
दः । मेध्यमश्वं परीक्षन्तां तव यज्ञार्थं सिद्धये ॥ ५ ॥ तमुत्सृज्य
यथाशास्त्रं पृथिवीं सागराम्बरां । स पर्येतु यशो दीप्तं तव पार्थिव
दर्शयन् ॥ ६ ॥ इत्युक्तः स तथेत्युक्त्वा पाण्डवः पृथिवीपतिः ।
चकार सर्वं राजेन्द्र यथोक्तं ब्रह्मवादिना ॥ ७ ॥ स संभारान्
समाहृत्य नृपो धर्मसुतस्तदा । न्यवेदयदमेयात्मा कृष्णद्वैपायनाय
वै ॥ ८ ॥ ततोऽब्रवीन्महातेजा व्यासो धर्मात्मजं नृपं । यथाकालं
यथायोगं सज्जाः स्म तव दीक्षणे ॥ ९ ॥ अश्वश्चोत्सृज्यतामद्य
पृथ्व्यामथ यथाक्रमं । सुगुप्तं चरतां चापि यथा शास्त्रं यथा-
विधि ॥ १० ॥ जिष्णुः सहिष्णुर्धृष्णुश्च स एनं पालयिष्यति ।
शक्तः स हि महीं जेतुं निवातकवचान्तकः ॥ ११ ॥ तत्तु सर्वं यथा-
न्याय मुक्तः कुरुकुलोद्वहः । चकार फाल्गुनं चापि संदिदेश हयं
प्रति ॥ १२ ॥ एह्यर्जुन त्वया वीर हयोऽयं परिपाल्यतां । त्वमर्हो
रक्षितुं ह्येनं नान्यः कश्चन मानवः ॥ १३ ॥ ये चापि त्वां महा-
बाहो प्रत्युद्यान्ति नराधिपाः । तैर्विग्रहो यथा न स्यात्तथा कार्यं
त्वयाऽनघ ॥ १४ ॥ आख्यातव्यश्च भवता यज्ञोऽयं मम सर्वशः ।
पार्थिवेभ्यो महाबाहो समये गम्यतामिति ॥ १५ ॥ एवमुक्त्वा स
धर्मात्मा भ्रातरं सव्यसाचिनं । भीमं च नकुलं चैव पुरगुप्तौ स-
मादधत ॥ १६ ॥ कुटुम्बतन्त्रे च तदा सहदेवं युधांपतिं । अनु-
मान्य महीपालं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥

अर्थ–श्रीकृष्ण के इस वचन को सुन कर मेधावी युधिष्ठिर व्यास को सम्बोधित कर यह वचन बोले ॥ १ ॥ अश्वमेध का जो समय आप ठीक २ जानें उस समय मुझे दीक्षा दें, मेरा यज्ञ आप के अधीन है ॥ २ ॥ व्यास बोले–हे कौन्तेय मैं स्वयं तथा पैल और याज्ञवल्क्य हम तीनों मिल कर जिस समय जो कर्तव्य होगा, उस का निश्चय करते रहेंगे, संशय नहीं ॥३॥ चैत्र की पौर्णमासी के दिन आप दीक्षित होंगे, इस लिए हे पुरुषवर यज्ञ के अर्थ सामग्री तय्यार करो ॥ ४ ॥ अश्वविद्या के जानने वाले सूत और ब्राह्मण आप की यज्ञसिद्धि के लिए यज्ञिय अश्व की परीक्षा करें ॥ ५ ॥ उस अश्व को शास्त्रविधि के अनुसार छोड़ें, वह आप के प्रचण्ड यश को प्रकट करता हुआ सागराम्बरा पृथिवी पर घूमे ॥ ६ ॥ यह सुन ' तथास्तु ' कह कर राजा युधिष्ठिर ने सब तय्यार करवा दिया, जैसा कि ब्रह्मवादी ने आज्ञा दी थी ॥ ७ ॥ धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने सारी सामग्री इकट्ठी कर के कृष्ण द्वैपायन से सब निवेदन किया ॥ ८ ॥ तब तेजस्वी व्यास राजा युधिष्ठिर से बोले, समय और योग के अनुसार हम अब तुम्हारी दीक्षा के लिए तय्यार हैं ॥ ९ ॥ आज ही यथाक्रम पृथिवी पर अश्व को खुला छोड़ दीजिये, जो शास्त्रविधि के अनुसार सुरक्षित हो कर खुला फिरे ॥ १० ॥ शत्रुओं के सहने वाला और दबाने वाला अर्जुन इस की रक्षा करेगा, वह निवातकवचों का जीतने वाला सारी पृथिवी को जीतने की शक्ति रखता है ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर ने वह सब यथाविधि पूरा किया, और अश्व के विषय में अर्जुन को यह आदेश दिया ॥ १२ ॥ आओ हे अर्जुन तुम इस अश्व की रक्षा करो, तुम ही इस की

रक्षा करने के योग्य हो, और कोई नहीं ॥ १३ ॥ हे महाबाहो जो राजे तुम्हारा प्रत्युद्गमन (आगे बढ़ कर स्वीकार करना इसतकबाल) करें, उन के साथ जिस प्रकार युद्ध न हो, वैसे करना ॥ १४ ॥ और मेरे इस यज्ञ की सर्वत्र घोषणा देनी, राजाओं को कहते जाना, कि वे समय पर यहां पहुंच जाएं ॥१५ ॥ अर्जुन को ऐसे कह कर युधिष्ठिर ने राजा धृतराष्ट्र की अनुमति से भीम और नकुल को पुर रक्षा के काम में, और युधपति सहदेव को कुटुम्ब तन्त्र में नियुक्त किया ॥ १६–१७ ॥

अ० ४ (व० ७३-८७) अश्व का पृथिवी भ्रमण

मूल—दीक्षाकाले तु संप्राप्ते ततस्ते सुमहार्त्विजः । विधिवद् दीक्षयामासुरश्वमेधाय पार्थिवं ॥ १ ॥ हयश्च हयमेधार्थं स्वयं स ब्रह्मवादिना । उत्सृष्टः शास्त्रविधिना व्यासेनामिततेजसा ॥ २ ॥ स राजा धर्मराड् राजन् दीक्षितो विबभौ तदा । हेममाली रुक्मकण्ठः प्रदीप्त इव पावकः ॥ ३ ॥ कृष्णाजिनी दण्डपाणिः क्षौमवासाः स धर्मजः । विबभौ द्युतिमान् भूयः प्रजापतिरिवाध्वरे॥४॥ तथैवास्यार्त्विजः सर्वे तुल्यवेषा विशांपते । बभूवुरर्जुनश्चापि प्रदीप्त इव पावकः ॥५॥ श्वेताश्वः कृष्णसारं तं ससाराश्वं धनञ्जयः॥६॥ आकुमारं तदा राजन्नागमत तत्पुरं विभो । द्रष्टुकामं कुरुश्रेष्ठं प्रयास्यन्तं धनञ्जयं ॥ ७ ॥ ततः शब्दो महाराज दिशः खं प्रति पूरयन् । बभूव प्रेक्षतां नृणां कुन्तीपुत्रं धनञ्जयं ॥ ८ ॥ स्वस्ति तेऽस्तु व्रजारिष्टं पुनश्चैहीति भारत ॥ ९ ॥ ब्राह्मणाश्च महीपाल बहवो वेदपारगाः । अनुजग्मुर्महात्मानं क्षत्रियाश्च विशांपते॥१०॥

पाण्डवैः पृथिवी मध्यो निर्जितायस्त्रतेजसा। चचार स महाराज यथादेशं च सत्तम ॥ ११ ॥ अवमृद्नन् स राष्ट्राणि पार्थिवानां हयोत्तमः। शनैस्तदा परिययौ श्वेताश्वश्च महारथः ॥ १२ ॥ किराता यवना राजन् बहवोऽसिधनुर्धराः। म्लेच्छाश्चान्ये बहुविधाः पूर्वं ये निकृता रणे ॥ १३ ॥ आर्याश्च पृथिवीपालाः प्रहृष्टनरवाहनाः। समीयुः पाण्डुपुत्रेण बहवो युद्धदुर्मदाः॥१४॥ एवं वृत्तानि युद्धानि तत्र तत्र महीपते। अर्जुनस्य महीपालैर्नानादेशसमागतैः ॥ १५ ॥

अर्थ—दीक्षा का समय उपस्थित होने पर उन महाऋत्विजों ने अश्वमेध के लिए राजा को यथाविधि दीक्षित किया ॥ १ ॥ अमित तेजस्वी ब्रह्मवादी स्वयं व्यास ने शास्त्र और विधि के अनुसार अश्वमेध के लिए वह घोड़ा छोड़ा ॥ २ ॥ धर्मराज युधिष्ठिर दीक्षित होकर गले में सुवर्ण की माला और कण्ठा पहर के उस समय प्रदीप्त अग्नि की भांति प्रकाशित होने लगे ॥ ३ ॥ कृष्ण मृग की छाल धारे हाथ में दण्ड लिए रेशमी वस्त्र पहने हुए वह धर्मपुत्र यज्ञ में प्रजापति की भांति अधिक शोभा वाले हो गए ॥ ४ ॥ उन के ऋत्विज् भी सभी तुल्य वेश वाले शोभायमान हुए। अर्जुन भी (रक्षा के लिए) प्रदीप्त अग्नि की भांति चमक उठा ॥ ५ ॥ श्वेत घोड़ों वाले अर्जुन उस श्यामल कर्णों वाले अश्व के पीछे चले॥ ६ ॥ रक्षा के लिए चढ़ाई करते अर्जुन को देखने के लिए वह सारा पुर बच्चों तक वहां आगया ॥ ७ ॥ तब कुन्तीपुत्र अर्जुन को देखते हुए पुरुषों का शब्द दिशाओं में और आकाश में गूंजने लगा ॥ ८ ॥ उन लोगों ने

कहा-तेरा मंगल हो, निर्विघ्न जाओ, फिर आओ ॥९॥ हे राजन्! बहुत से वेद पारग ब्राह्मण, और योधा क्षत्रिय अर्जुन के साथ गए ॥ १० ॥ पाण्डवों के अस्त्र तेज से जीती हुई पृथिवी पर वह घोड़ा क्रम से घूमने लगा॥ ११ ॥ वह उत्तम घोड़ा राजाओं के राष्ट्रों को मर्दन करता हुआ धीरे २ दूर बढ़ता गया उस के साथ महारथी अर्जुन ॥ १२ ॥ हे राजन् ! तलवार और धनुष के धनी बहुत से किरात और यवन और भी स्थान २ के म्लेच्छ जो रण में पहले हार खाचुके हुए थे, और प्रसन्न वीरों और वाहनों वाले रणबांकुरे कई आर्यराजे भी पाण्डुपुत्र से भिड़े ॥१४॥ हे राजन् ! इस प्रकार वहां२ सामने आए राजाओं के साथ अर्जुन के युद्ध हुए ॥ १५ ॥

मूल—तं निवृत्तं तु शुश्राव चारेणैव युधिष्ठिरः । प्रोवाचेदं वचः काले भीमं प्रहरतां वरं॥ १६ ॥ आयाति भीमसेनासौ सहाश्वेन तवानुजः । तत्प्रस्थाप्यन्तु विद्वांसो ब्राह्मणा वेदपारगाः । वाजिमेधार्थ सिद्ध्यर्थं देशं पश्यन्तु याज्ञियं । इत्युक्तः स तु तच्चक्रे भीमो नृपतिशासनं ॥ १७—१८ ॥ ततः कृत्वा स्थपतयः शिल्पिनोऽन्ये च ये तदा । कृत्स्नं यज्ञविधिं राजन् धर्मराजं न्यवेदयन् ॥ १९ ॥ ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमं । देवेन्द्रस्येव विहितं भीमसेनेन भारत ॥ २० ॥ ददृशुस्तोरणान्यत्र शातकुम्भमयानि ते । शय्यासनविहारांश्च सुबहून् रत्नसंचयान् ॥ २१ ॥ घटान् पात्रीः कटाहानि कलशान् वर्धमानकान् । नहि किञ्चिद सौवर्ण मपश्यन् वसुधाधिपाः ॥ २२ ॥ एवं प्रमुदितं सर्व पशुगोधनधान्यतः । यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा परं विस्मय मागताः ॥ २३ ॥

ब्राह्मणानां विशांचैव बहुमृष्टाश्च मृद्धिवत् । दुन्दुभिर्मेघनिर्घोषो मुहुर्मुहुरताड्यत ॥ २४ ॥ जम्बूद्वीपो हि सकलो नाना जनपदायुतः । राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्य महामखे ॥ २५ ॥ तेषां कथयतामेव पुरुषोऽर्जुन संकथाः । उपायादु वचनादु दूतो विजयस्य महात्मनः ॥ २६ ॥ सोऽभिगम्य कुरुश्रेष्ठं नमस्कृत्य च बुद्धिमान् । उपायातं नरव्याघ्रं फल्गुनं प्रत्यवेदयत् ॥ २७ ॥ तच्छ्रुत्वा नृपतिस्तस्य हर्षबाष्पाकुलेक्षणः । प्रियाख्यान निमित्तं वै ददौ बहुधनं तदा ॥ २८ ॥ ततो द्वितीये दिवसे महाञ्छब्दो व्यवर्धत । आगच्छति नरव्याघ्रे कौरवाणां धुरन्धरे ॥२९॥ तत्र हर्षकरीर्वाचो नराणां शुश्रुवेऽर्जुनः । दिष्ट्या स पार्थः कुशली धन्यो राजा युधिष्ठिरः ॥ ३० ॥ कोऽन्यो हि पृथिवीं कृत्स्नां जित्वा हि युधि पार्थिवान् । चारयित्वा हयश्रेष्ठ मुपागच्छेदृतेऽर्जुनात् ॥ ३१ ॥ ये व्यतीता महात्मानो राजानः सगरादयः । तेषामपीदृशं कर्म न कदाचन शुश्रुम ॥ ३२ ॥ इत्येवं वदतां तेषां पुंसां कर्णसुखा गिरः। शृण्वन् विवेश धर्मात्मा फाल्गुनो यज्ञ संस्तरं ॥ ३३ ॥ ततो राजा सहामात्यः कृष्णश्च यदुनन्दनः। धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य तं प्रत्युद्ययतुस्तदा ॥ ३४ ॥ सोऽभिवाद्य पितुः पादौ धर्मराजस्य धीमतः । भीमादींश्चापि संपूज्य पर्यष्वजत केशवं ॥ ३५ ॥ तैः समेत्यार्चितस्तांश्च प्रत्यच्यर्थ यथाविधि । विशश्राम महाबाहुस्तीरं लब्ध्वेव पारगः ॥ ३६ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर ने गुप्तचर द्वारा जब अर्जुन का, लौटना सुना, तो समय पर वीरवर भीम से यह वचन कहा ॥ १६ ॥ हे भीमसेन तेरा छोटा भाई घोड़े समेत आ रहा है, सो अब वेदपारग ब्राह्मणों को भेजिये, कि अश्वमेध की कार्यसिद्धि के लिए

यज्ञस्थान तय्यार कर वाएं,यह सुन कर भीम ने राजा की आज्ञा को पूर्ण कर दिया ॥ १७—१८ ॥ इञ्जनीयर और दूसरे शिल्पियों ने संपूर्ण यज्ञविधान तय्यार कर धर्मराज से निवेदन किया ॥ १९ ॥ राजाओं ने भीमसेन से तय्यार करवाए यज्ञ के उस उत्तम विधान को देखा,जो मानो इन्द्र के यज्ञ के समान था ॥ २० ॥ वहां उन्होंने सोने के तोरण शय्या आसन विहार और बहुत से रत्नसंचय देखे ॥ २१ ॥ घड़े, पात्रियें, कड़ाहे, कलश, वर्धमानक, इत्यादि वहां कुछ भी न सोने का नहीं दीखता था ॥ २२ ॥ इस प्रकार गौओं और दूसरे पशुओं और धन धान्य से भरे यज्ञवाट को देख कर सब राजे परम विस्मय को प्राप्त हुए ॥ २३ ॥ वह यज्ञवाट ब्राह्मणों और दूसरी प्रजाओं के लिए बहुत स्वच्छ अन्नों से पूर्ण था। वहां मेघ की सी ध्वनि वाली दुन्दुभि बार २ बजाई जाती थी ॥ २४ ॥ हे राजन्! उस राजा के महायज्ञ में नाना देशों से युक्त सारा जम्बूद्वीप एक स्थान में स्थित दीखता था ॥ २५ ॥ उन राजाओं के अर्जुन सम्बन्धी कथाएं कहते हुए, महात्मा अर्जुन की आज्ञा से दूत आ पहुंचा ॥ २६ ॥ बुद्धिमान् दूत ने युधिष्ठिर के निकट जा नमस्कार करके अर्जुन का निकट आ पहुंचना निवेदन किया ॥२७॥ उस के इस वचन को सुन कर हर्ष की आंसुओं से भरे नेत्रों वाले राजा ने उस को इस प्रिय सुनाने के निमित्त बहुतसा धन दिया ॥ २८ ॥ तब दूसरे दिन नरवर कौरवधुरन्धर के आने के समय बड़ा शब्द हुआ, वहां अर्जुन ने प्रसन्नता देने वाली लोगों की वाणियें सुनीं, भाग्य से अर्जुन कुशली है, धन्य राजा युधिष्ठिर

है ॥ २९–३० ॥ अर्जुन के विना कौन ऐसा है, जो अश्ववर को सारे फिरा कर युद्ध में सारी पृथिवी को जीत कर आए ॥ ३१ ॥ जो महात्मा सगर आदि राजे होचुके हैं, उन का भी ऐसा कर्म हमने कभी नहीं सुना है ॥ ३२ ॥ इस प्रकार कहते हुए उन पुरुषों के कर्ण सुखदायक वचन सुनता हुआ धर्मात्मा अर्जुन यज्ञसंस्तर में प्रविष्ट हुआ ॥ ३३ ॥ तब मन्त्रियों समेत युधिष्ठिर और यदुनन्दन कृष्ण धृतराष्ट्र को आगे कर के अर्जुन को लेने गए ॥ ३४ ॥ उसने पहले धृतराष्ट्र को प्रणाम किया, फिर युधिष्ठिर के चरण छुए, और भीम आदि का पूजन कर के कृष्ण को गले लगाया ॥ ३५ ॥ उन के साथ मिल उन से पूजित हुए अर्जुन ने यथाविधि उन की पूजा कर के किनारे पर पहुंच कर पार जाने वाले की भांति विश्राम किया ॥ ३६ ॥

अ० ५ (वृ० ८८-८९) यज्ञ कार्य

मूल—ततस्तृतीये दिवसे सत्यवत्यात्मजो मुनिः । युधिष्ठिरं समभ्येत्य वाग्मी वचन मब्रवीत् ॥ १ ॥ अद्यप्रभृति कौन्तेय यजस्व समयोहि ते । मुहूर्तो याज्ञियः प्राप्तश्चोदयन्तीह याजकाः ॥ २ ॥ अहीनो नाम राजेन्द्र क्रतुस्तेऽयं च कल्पतां । बहुत्वात् काञ्चनाख्यस्य ख्यातो बहुसुवर्णकः ॥ ३ ॥ ततो यज्ञं महाबाहु-र्वाजिमेधं महाक्रतुं । बहुप्रदाक्षिणं राजा सर्वकाम गुणान्वितं ॥४॥ तत्र वेदविदो राजंश्चक्रुः कर्माणि याजकाः । परिक्रमन्तः सर्वज्ञा विधिवत्साधु शिक्षितं ॥ ५ ॥ न तेषां स्खलितं किञ्चिदासीच्चाप्यकृतं तथा । क्रमयुक्तं च युक्तं च चक्रुस्तत्र द्विजर्षभाः ॥६॥ अभिषूय ततो राजन् सोमं सोमपसत्तमाः । सवनान्यानुपूर्व्येण

चक्रुः शास्त्रानुसारिणः ॥ ७ ॥ तत्र कृपणः कश्चिन्न दरिद्रो ब-
भूव ह । क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानवः ॥ ८ ॥
भोजनं भोजनार्थेभ्यो दापयामास शत्रुहा । भीमसेनो महातेजाः
सततं राजशासनात्॥ ९ ॥ ततो यूपोच्छ्रये प्राप्ते षड्बैल्वान् भर-
तर्षभ । खादिरान् बिल्वसमितांस्तावतः सर्ववर्णिनः ॥ १०॥ देव-
दारुमयौ द्वौ तु यूपौ कुरुपतेर्मखे । श्लेष्मातकमयं चैकं याजकाः
समकल्पयन् ॥ ११ ॥ इष्टकाः काञ्चनीश्चात्र चयनार्थं कृताभ-
वन् । शुशुभे चयनं तत्र दक्षस्येव प्रजापतेः ॥ १२ ॥ चतुश्चित्य-
स्य तस्यासीदष्टादश करात्मकः । स रुक्मपक्षो निचितस्त्रिकोणो
गरुडाकृतिः ॥ १४ ॥

अर्थ—तब तीसरे दिन वाग्मी व्यासजी युधिष्ठिर के पास आकर यह वचन बोले ॥ १ ॥ आज से लेकर हे कौन्तेय यजन करो, तुम्हारा समय है, यज्ञ का वेला आगया है, याजक अब प्रेरते हैं ॥ २॥ हे राजन् यह पहले अहीन क्रतु आरम्भ कीजिये, जो सुवर्ण की बहुतायत से बहुसुवर्णक है ॥ ३ ॥ पीछे महाबाहु ने बहुत अन्न की दक्षिणा वाला सारी कामनाओं का पूरने वाला अश्वमेध यज्ञ किया ॥ ४ ॥ वहां वेदवेत्ता सारी विधि के जानने वाले याजक ठीक शिक्षा से घूमते हुए यथाविधि कर्म करने लगे ॥ ५ ॥ न स्वर में फिसले न कर्म में भूल की, क्रम से मुक्त और क्रम से युक्त अपने २ अवसर पर कर्म किया॥६॥ तब सोम पीने वालों ने सोम निचोड़ कर शास्त्र के अनुसार क्रमशः तीनों सवन किये ॥ ७ ॥ उन दिनों वहां कोई पुरुष न कृपण न दरिद्र न क्षुधित न दुःखित प्रतीत होता था ॥ ८ ॥ तेजस्वी भीमसेन राजा की आज्ञा से सब भोजनार्थियों को बरा-

बर भोजन देते थे ॥ ९ ॥ तब यूप खड़ा करने का समय आने पर छः यूप बिल्व के और उतने ही खैर के, दो देवदारु के, और एक श्लेष्मातक का याजकों ने बनवाया ॥ ११ ॥ चयन के लिए सोने की ईंटें तय्यार कीगई, वह चयन दक्षप्रजापति के चयन की भांति शोभायमान हुआ ॥ १२ ॥ चतुश्चित्य का मण्डप अठारह हाथ का सोने के पत्तों का गरुडाकृति त्रिकोण चिना गया ॥ १३ ॥

मूल—संस्थाप्यैवं तस्य राज्ञस्तं यज्ञं शक्रतेजसः । व्यासः स शिष्यो भगवान् वर्धयामास तं नृपं ॥ १४ ॥ ततो युधिष्ठिरः प्रादाद् ब्राह्मणेभ्यो यथाविधि । कोटीः सहस्रं निष्काणां व्यासाय तु वसुन्धरां ॥ १५ ॥ प्रतिगृह्य धरां राजन् व्यासः सत्यवतीसुतः । अब्रवीद् भरतश्रेष्ठं धर्मराजं युधिष्ठिरं ॥ १६ ॥ वसुधा भवतस्त्वेषा संन्यस्ता राजसत्तम । निष्क्रयो दीयतां मह्यं ब्राह्मणा हि धनार्थिनः ॥ १७ ॥ युधिष्ठिरस्तु तान् विप्रान् प्रत्युवाच महामनाः । भ्रातृभिः सहितो धीमान् मध्ये राज्ञां महात्मनां ॥ १८ ॥ अश्वमेधे महायज्ञे पृथिवी दक्षिणा स्मृता । अर्जुनेन जिता चेयमृत्विग्भ्यः प्रापिता मया ॥ १९ ॥ वनं प्रवेक्ष्ये विप्राग्र्या विभजध्वं महीमिमां । चतुर्धा पृथिवीं कृत्वा चातुर्होत्रप्रमाणतः ॥ २० ॥ नाहमादातु मिच्छामि ब्रह्मस्वं द्विजसत्तमाः । इदं नित्यं मनो विप्रा भ्रातॄणां चैव मे सदा ॥ २१ ॥ इत्युक्तवति तस्मिंस्तु भ्रातरो द्रौपदी च सा । एवमेतदिति प्राहुस्तद् भूल्लोमहर्षणं ॥ २२ ॥ द्वैपायनस्तथा कृष्णः पुनरेव युधिष्ठिरं । प्रोवाच मध्ये विप्राणामिदं संपूजयन् मुनिः ॥ २३ ॥ दत्तैषा भवता मह्यं तां ते प्रददाम्यहं । हिरण्यं दीयतामेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो धरास्तु ते ॥ २४ ॥ ततोऽब्रवीद् वासुदेवो धर्मराजं युधिष्ठिरं । यथाह भगवान् व्यासस्तथा त्वं

कर्तुमर्हसि ॥ २५ ॥ इत्युक्तः स कुरुश्रेष्ठः प्रीतात्मा भ्रातृभिः सह। कोटी कोटी कृत्वा प्रादाद् दक्षिणां त्रिगुणां क्रतोः ॥ २६ ॥ प्रतिगृह्य तु तद्रत्नं कृष्णद्वैपायनो मुनिः । ऋत्विग्भ्यः प्रददौ विद्वांश्चतुर्धा व्यभजंश्च ते ॥ २७ ॥ ऋत्विजस्तत्पर्यन्तं सुवर्णनिचयं तदा । व्यभजन्त द्विजातिभ्यो यथोत्साहं यथासुखं ॥ २८ ॥ यज्ञवाटे च यत् किञ्चित् हिरण्यं सविभूषणं । युधिष्ठिराभ्यनुज्ञाताः सर्वं तद् व्यभजन् द्विजाः ॥ २९ ॥ ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे मुदिता जग्मुरालयान् । तर्पिता वसुना तेन धर्मराजेन धीमता ॥ ३० ॥ स्वमंशं भगवान् व्यासः कुन्त्यै प्रादाद्धि पावनः । प्रददौ तस्य महतो हिरण्यस्य महाद्युतिः ॥ ३१ ॥ श्वशुरात् प्रीतिदायं तं प्राप्य सा प्रीतमानसा । चकार पुण्यकं तेन सुमहत् संघशः पृथा ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस प्रकार इन्द्रतुल्य तेज वाले उस राजा के यज्ञ को समाप्त कर के शिष्यों समेत भगवान् व्यास ने राजा को बधाई दी ॥ १४ ॥ तब राजा ने यथाविधि ब्राह्मणों को करोड़ों निष्क (मुहरें) दिये, और व्यास को पृथिवी दी ॥ १५ ॥ पृथिवी को स्वीकार कर सत्यवतीपुत्र व्यास धर्मराज युधिष्ठिर से बोले ॥ १६ ॥ हे राजवर ! यह पृथिवी मैं देता हूं, मुझे इस का निष्क्रय (बदला) दे दीजिये, ब्राह्मण धन के अर्थी हैं (राज्य के नहीं) ॥ १७ ॥ उदार हृदय युधिष्ठिर महात्मा, राजाओं के मध्य में भाइयों समेत यह वचन बोले ॥ १८ ॥ अश्वमेध महायज्ञ में पृथिवी दक्षिणा मानी गई है, अर्जुन ने इसे जीता है, मैं इसे ऋत्विजों को देता हूं ॥ १९ ॥ हे ब्राह्मणवरो ! वन में प्रवेश करूंगा, आप इस भूमि को चार भाग कर के बांट लें ॥ १९ ॥

हे ब्राह्मणवरो ! मैं ब्राह्मणों का धन कभी नहीं लेना चाहता हूं, हे ब्राह्मणो यही सदा मेरा विचार है, यही मेरे भाइयों का है ॥ २१ ॥ उस के ऐसा कहने पर उस के भाइयों ने और द्रौपदी ने 'तथास्तु' कहा, यह प्रस्ताव रोंगटे खड़ा करने वाला हुआ ॥ २२ ॥ पर व्यासजी ने फिर भी ब्राह्मणों के मध्य में युधिष्ठिर के वचन का आदर करते हुए यह कहा ॥ २३ ॥ आपने यह मुझे देदी है, अब मैं उसे तुझे देता हूं, इन ब्राह्मणों को सोना दीजिये, पृथिवी आप की हो ॥ २४ ॥ तब श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर से बोले, जैसे भगवान् व्यास जी कहते हैं, वैसे तुम्हें करना चाहिये ॥ २५ ॥ यह सुन कुरुवर ने प्रसन्न हो भाइयों के साथ मिल कर उन को तीन ३ करोड़ यज्ञ की दक्षिणा दी ॥ २६ ॥ व्यास जी ने वह द्रव्य ले कर ऋत्विजों को दे दिया और उन्होंने चार भागों में बांट लिया ॥ २७ ॥ ऋत्विजों ने उस बड़े सुवर्ण राशि को ले कर अपने उत्साह के अनुसार आनन्द से ब्राह्मणों को बांट दिया ॥ २८ ॥ यज्ञवाट में जो कुछ सुवर्ण के पात्र और भूषण थे, युधिष्ठिर की आज्ञा से वह भी सारा धन ब्राह्मणों ने बांट लिया ॥ २९ ॥ युधिष्ठिर द्वारा धन से तृप्त हो कर वे ब्राह्मण अपने घरों को गए ॥ ३० ॥ भगवान् व्यास ने अपना अंश मान से कुन्ती को दे दिया, इस प्रकार उस तेजस्वी ने बहुत सा सुवर्ण उसे दिया ॥ ३१ ॥ श्वशुर से प्रीतिदान ले कर प्रसन्न हुई कुन्ती ने उस के साथ और भी बहुतसा सुवर्ण मिला कर ब्राह्मण संघ को पुण्य कर दिया ॥ ३२ ॥

मूल—गत्वा त्ववभृथे राजा विपाप्मा भ्रातृभिः सह । संभाज्यमानः शुशुभे महेन्द्रस्त्रिदशैरिव ॥ ३३ ॥ पाण्डवाश्च महीपालैः

समेतैरभिसंवृताः । अशोभन्त महाराज ग्रहास्तारा गणैरिव ॥३४॥ नृपतींश्चैव तान् सर्वान् सुविभक्तान् सुपूजितान् । प्रस्थापयामास वशी कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३५ ॥ गोविन्दं च महात्मानं बलदेवं महाबलं । तथाऽन्यान् वृष्णिवीरांश्च प्रद्युम्नाद्यान् सहस्रशः ॥ ३६ ॥ पूजयित्वा महाराज यथाविधि महाद्युतिः । भ्रातृभिः सहितो राजा प्रास्थापयदरिन्दमः ॥ ३७ ॥ दीयतां भुज्यतां चेष्टं दिवारात्र मवारितं । तं महोत्सव संकाशं हृष्टपुष्टजनाकुलं ॥३८॥ कथयन्ति स्म पुरुषा नाना देश निवासिनः ॥ ३९ ॥ वर्षित्वा धन धाराभिः कामैरत्नै रसैस्तदा । विपाप्मा भरतश्रेष्ठः कृतार्थः प्राविशत् पुरं ॥ ४० ॥

अर्थ—अवभृथ स्नान के स्थान पर जा कर पाप से शून्य हुआ राजा भाइयों समेत ऐसा शोभायमान हुआ जैसे देवताओं समेत इन्द्र हो ॥ ३३ ॥ इकट्ठे हुए राजाओं से घिरे हुए पाण्डव तारागणों से ग्रहों की भांति शोभायमान हुए ॥ ३४ ॥ कुरुराज युधिष्ठिर ने उन सब राजाओं को अलग २ रत्न आदि से पूज कर अपने २ देशों को विदा किया ॥ ३५ ॥ महात्मा कृष्ण और महाबल बलदेव को, तथा प्रद्युम्न आदि अन्य अनेक यादव वीरों को भाइयों सहित यथाविधि पूज कर विदा किया॥३६-३७॥ दो, खाओ, यह बिना रोक जहां दिन रात शब्द होता रहा, हृष्ट पुष्ट जनों से पूर्ण उस महोत्सव का नाना देशवासी जन वर्णन करते थे ॥ ३८-३९ ॥ धन, रत्न और रसों की मूसलाधार वर्षा करके वह भारत निष्पाप और कृतार्थ हो कर पुर में प्रविष्ट हुआ ४०

अश्वमेधपर्व समाप्त हुआ ॥

आश्रमवासपर्व ॥

अ० १ (व० १-३) धृतराष्ट्र और गान्धारी का संमान

मूल—प्राप्य राज्यं महात्मानः पाण्डवा हतशत्रवः । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य पृथिवीं पर्यपालयन् ॥ १ ॥ पाण्डवाः सर्वकार्येषु पर्यपृच्छन्त तं नृपं । चक्रुस्तेनाभ्यनुज्ञाता वर्षाणि दशपञ्च च ॥ २ ॥ कुन्तिभोजसुता चैव गान्धारी मन्ववर्तत ॥ ३ ॥ द्रौपदी च सुभद्रा च याश्चान्याः पाण्डवस्त्रियः । समां वृत्तिं मवर्तन्त तयोः श्वश्र्वोर्यथाविधि ॥ ४ ॥ शयनानि महार्हाणि वासांस्याभरणानि च । राजार्हाणि च सर्वाणि भक्ष्यभोज्यान्यनेकशः ॥ ५ ॥ युधिष्ठिरो महाराज धृतराष्ट्रेऽभ्युपाहरत् । तथैव कुन्ती गान्धार्यां गुरुवृत्तिं मवर्तत ॥ ६ ॥ एवं संपूजितो राजा पाण्डवै रम्बिकासुतः । विजहार यथा पूर्वं मुषिभिः पर्युपासितः ॥ ७ ॥ ब्रह्मदेयाग्रहारांश्च मददौ स कुरूद्वहः । तच्च कुन्तीसुतो राजा सर्वमेवान्वपद्यत ॥८॥ वर्तमानेषु सद्वृत्तिं पाण्डवेषु महात्मसु । प्रीतिमानभवद्राजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ ९ ॥ सौबलेयी च गान्धारी पुत्रशोकमपास्य तं । सदैव प्रीतिमत्यासीत्तनयेषु निजेष्विव ॥ १० ॥ यद्यद्ब्रूते च किञ्चित् स धृतराष्ट्रो जनाधिपः । गुरु वा लघु वा कार्यं गान्धारी च तपस्विनी ॥ ११ ॥ तं स राजा महाराज पाण्डवानां धुरन्धरः । पूजयित्वा वचस्तत्तदकार्षीत् परवीरहा ॥ १२ ॥ तेन तस्या भवत् प्रीतो वृत्तेन स नराधिपः । अन्वतप्यत संस्मृत्य पुत्रं तं मन्दचेतसं ॥ १३ ॥ यदा तु कौरवो राजा पुत्रं सस्मार दुर्मतिं । तदा भीमं हृदा राजन्नपध्याति स पार्थिवः ॥ १४ ॥ तथैव भीमसेनोपि धृतराष्ट्रं जनाधिपं । नामर्षयत राजेन्द्रं सदैव दुष्टवद्धृदा ॥१५॥

अथ भीमः सुहृन्मध्ये बाहुशब्दं तथा करोत् । संश्रवे धृतराष्ट्रस्य गान्धार्याश्चाप्य मर्षणः ॥ १६ ॥ इमौ तौ परिघपरिख्यौ भुजौ मम दुरासदौ । ययोरन्तर मासाद्य धार्तराष्ट्राः क्षयंगताः ॥ १७ ॥ एताश्चान्याश्च विविधाः शल्यभूता नराधिपः । वृकोदरस्य ता वाचः श्रुत्वा निर्वेदमागमत् ॥ १८ ॥ सा च बुद्धिमती देवी कालपर्याय वेदिनी ॥ १९ ॥ नाव बुध्यत तद्राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । श्वेताश्वो वाथ कुन्ती वा द्रौपदी वा यशस्विनी ॥ २० ॥

अर्थ—हतशत्रु पाण्डव राज्य को पा कर धृतराष्ट्र को आगे कर के पृथिवी का पालन करने लगे ॥ १ ॥ सारे कार्य पाण्डव उस राजा से पूछ कर उस की अनुमति से करते थे, इस प्रकार उन्हें पन्द्रह वर्ष बीत गए । कुन्ती भी वैसे ही गान्धारी के अनुकूल वर्तती रही ॥ २—३ ॥ द्रौपदी, सुभद्रा और जो दूसरी पाण्डवों की स्त्रियें थीं, वे भी दोनों सासों के साथ यथाविधि एक समान वर्तती थीं ॥ ४ ॥ हे महाराज राजा युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के लिए बहु मूल्य शयन वस्त्र भूषण और राजा के योग्य भक्ष्य भोज्य भेंट करता रहता, वैसे ही कुन्ती, गान्धारी के लिए गुरुओं का सा वर्ताव करती ॥ ५—६ ॥ इस प्रकार पाण्डवों से पूजित हुआ राजा धृतराष्ट्र ऋषियों की संगति में यथापूर्व आनन्द से रहा ॥ ७ ॥ ब्राह्मणों को देने योग्य अग्रहार धृतराष्ट्र ने दिये, और वह सब युधिष्ठिर ने स्वीकार किया ॥ ८ ॥ पाण्डवों के इस प्रकार उत्तम वर्ताव से राजा धृतराष्ट्र बड़े प्रसन्न थे ॥ ९ ॥ और सुबलपुत्री गान्धारी भी पुत्रशोक को दूर कर सदा अपने पुत्रों के समान उन में प्रीतिमती थी ॥ १० ॥ राजा धृतराष्ट्र

और गान्धारी गुरु लघु जो २ कार्य कहते थे ॥ ११ ॥ उस को राजा युधिष्ठिर आदर पूर्वक पूरा करते थे ॥ १२ ॥ उस के ऐसे बर्ताव से राजा प्रसन्न थे, किन्तु उस मन्दचेता पुत्र का स्मरण कर संतप्त होते थे ॥ १३ ॥ जब राजा धृतराष्ट्र दुर्मति पुत्र का स्मरण करते, तब वह राजा भीम का हृदय से अनिष्ट चिन्तन करते ॥ १४ ॥ वैसे भीमसेन भी दुष्टहृदय से धृतराष्ट्र को नहीं सहारता था ॥ १५ ॥ एक बार भीम ने सुहृदों के मध्य में धृतराष्ट्र और गान्धारी के सुनते हुए ताल ठोंक कर कहा ॥ १६ ॥ यह मेरी परिघ तुल्य भुजाएं हैं, जिन के मध्य में आकर धृतराष्ट्र-सुत क्षय को प्राप्त हुए हैं ॥ १७ ॥ यह और ऐसी ही सल्ल की तरह चुभने वाली भीम की और भी बहुतसी बातें सुन कर धृतराष्ट्र उदास हो गया ॥ १८ ॥ और समय के फेर को समझने वाली बुद्धिमती गान्धारी भी उदास हो गई ॥ १९ ॥ कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने इस बात को नहीं जाना, न अर्जुन न कुन्ती न द्रौपदी ने ॥ २० ॥

अ० २ (व०३-४) वन गमन के लिए धृतराष्ट्र युधिष्ठिर संवाद

लमु—ततः समानयामास धृतराष्ट्रः सुहृज्जनं । बाष्पसंदिग्ध मत्यर्थ मिदमाह च तान् भृशं ॥ १ ॥ विदितं भवता मेतद् यथा वृत्तः कुरुक्षयः । ममापराधात् तत्सर्व मातिज्ञातं च कौरवाः ॥२॥ योहं दुष्टमतिं मन्दं ज्ञातीनां भयवर्धनं । दुर्योधनं कौरवानामाधिपत्येऽभ्यषेचयं ॥ ३ ॥ यच्चाहं वासुदेवस्य नाश्रौषं वाक्य मर्थवत् । वध्यतां साध्वयं पापः सामात्यइति दुर्मतिः ॥ ४ ॥ सोह मेतान्यलीकानि दुर्वृत्तान्यात्मनस्तदा । हृदये शल्यभुतानि धार-

यामि सहस्रशः ॥ ५ ॥ विशेषतस्तु पश्यामि वर्षे पञ्चदशेऽ-
द्य वै । अस्य पापस्य शुध्यर्थं नियतोस्मि सुदुर्मतिः ॥ ६ ॥ चतुर्थे
नियते काले कदाचिदपि चाष्टमे । तृष्णाविनयनं भुञ्जे गान्धारी
वेद तन्मम ॥ ७ ॥ करोत्याहार मिति मां सर्वः परिजनः सदा ।
युधिष्ठिरभयाद्वेत्ति भृशं तप्यति पाण्डवः ॥ ८ ॥ भूमौ शये ज-
प्यपरो दर्भेष्वजिनसंवृतः । नियम व्यपदेशेन गान्धारी च यश-
स्विनी ॥ ९ ॥ इत्युक्त्वा धर्मराजान मभ्यभाषत कौरवः । भद्रं ते
यादवी मातर्वचश्चेदं निबोध मे॥ १० ॥ सुखमस्म्यध्युषितः पुत्र
त्वया सुपरिपालितः । मया दानानि दत्तानि पुण्यं चीर्णं यथा-
बलं ॥ ११ ॥ आत्मनस्तु हितं पुण्यं प्रतिकर्तव्य मद्य वै। गान्धा-
र्याश्चैव राजेन्द्र तदनुज्ञातु मर्हसि ॥ १२ ॥ अनुज्ञातस्त्वया वीर
संश्रयेयं वनान्यहं । चीरवल्कल भृद्राजन् गान्धार्या सहितोऽनया
॥ १३ ॥ तवाशिषः प्रयुञ्जानो भविष्यामि वनेचरः ॥ १४ ॥ उ-
चितं नः कुले तात सर्वेषां भरतर्षभ । पुत्रेष्वैश्वर्य माधाय वयसो-
ऽन्ते वनं नृप ॥ १५ ॥ त्वं चापि फलभाक् तात तपसः पार्थिवो
ह्यसि । फलभाजो हि राजानः कल्याणस्ये तरस्य वा ॥ १६ ॥

अर्थ—तब धृतराष्ट्र ने अपने सुहृद् जनों को बुलाया, और आंसुओं से भरे कण्ठ से गद्गद वचन बोला ॥ १ ॥ आप को यह विदित है, जैसे कि कुरुओं का क्षय हुआ है, यह सब मेरे अपराध से हुआ है, हे कौरवो ! यह आप जानते हैं ॥२॥ जिस मैंने उस दुष्टमति ज्ञातियों के भय लाने वाले दुर्योधन को कौरवों के राज्य में अभिषिक्त किया ॥ ३ ॥ और जो कि मैंने कृष्ण के इस अर्थ वाले वाक्य को न सुना, कि इस पापी दुर्मति को मन्त्रियों समेत भले ही बांध दो (पर भाइयों का युद्ध रोको)

॥ ४ ॥ सो मैं अपने ये मिथ्याभूत महस्रों दुर्वृत्त जो मेरे हृदय में शल्य समान हैं, धारण किये हुए हूं ॥ ५ ॥ विशेषतः अब इस पन्द्रहवें वर्ष में इस पाप की शुद्धि के लिए विशेष नियम धारण किये हूं ॥ ६ ॥ चौथे समय और कभी २ आठवें समय पर भूख प्यास मिटाता हूं, गान्धारी मेरे इस व्रत को जानती है ॥ ७ ॥ 'भोजन करता है' इस प्रकार सारे नौकर मुझे युधिष्ठिर के भय से जानते हैं, न हो कि युधिष्ठिर (जान कर) तपे ॥ ८ ॥ नियम धार कर जप परायण हुआ भूमि में कुशा पर मृगान ओढ़े हुए लेटता हूं, और यशस्विनी गान्धारी भी ॥ ९ ॥ यह कह कर धर्मराज से बोले—हे युधिष्ठिर तेरा भला हो, मेरा यह वचन सुन ॥ १० ॥ तेरी सेवा शुश्रूषा में हे पुत्र मैं सुख से रहा हूं, मैंने दान दिये हैं और यथाशक्ति पुण्य कमाया है ॥ ११ ॥ अब मुझे और गान्धारी को अपने परलोक का हित कर्तव्य है, उस के लिए हे राजेन्द्र आप अनुज्ञा देने योग्य हैं ॥ १२ ॥ तेरी अनुमति से हे वीर अब मैं चीर और बक्कले पहन कर गान्धारी समेत वनों का आश्रय लूंगा ॥ १३ ॥ तुझे असीसें देता हुआ वनवासी बनूंगा ॥ १४ ॥ हे राजन् ! हमारे कुल में यह सब को उचित चला आता है, कि पिछली आयु में ऐश्वर्य को पुत्रों पर डाल कर वन में प्रवेश करना ॥ १५ ॥ तुम भी हे तात हमारे तप के फल भागी हो क्योंकि तुम राजा हो, राजा लोग (अपनी रक्षा में होते) पुण्य पाप दोनों के फल भागी होते हैं ॥ १६ ॥

मूल—यु० उ० अहोस्मि वञ्चितो मूढो भवता गूढ बुद्धिना।

विश्वासयित्वा पूर्वं मां यदिदं दुःखमश्नुथाः ॥ १७ ॥ किं मे रा-
ज्येन भोगैर्वा किं यज्ञैः किं सुखेन वा । यस्य मे त्वं महीपाल
दुःखान्येतान्य वाप्तवान् ॥१८॥ भवान् पिता भवान्माता भवान्नः
परमो गुरुः । भवता विप्रहीणा वै क्वनु तिष्ठामहे वयं ॥ १९ ॥
अहं वनं गमिष्यामि भवान् राज्यं प्रशास्तु । न मामयशसा दग्धं
भूयस्त्वं दग्धुमर्हसि ॥ २० ॥न मन्युर्हृदि नः कश्चित् सुयोधन कृ-
तेऽनघ । भवितव्यं तथा तद्धि वयं चान्ये च मोहिताः ॥२१॥ स
मां त्वं यदि राजेन्द्र परित्यज्य गमिष्यसि । पृष्ठतस्त्वानु यास्यामि
सत्यमात्मान मालभे ॥ २२ ॥ इयं हि वसु सम्पूर्णा मही सागर
मेखला । भवता विप्रहीणस्य न मे प्रीतिकरी भवेत् ॥२३॥भव-
दीयमिदं सर्वं शिरसा त्वां प्रसादये । त्वदधीनाः स्म राजेन्द्र
व्येतु ते मानसो ज्वरः ॥ २४ ॥ धृ० उ० तापस्ये मे मनस्तात
वर्तते कुरुनन्दन। उचितं च कुलेऽस्माक मनरण्य गमनं प्रभो॥२५॥
चिरमस्म्युषितः पुत्र चिरं शुश्रूषितस्त्वया । वृद्धं मामप्यनुज्ञातु म-
र्हसि त्वं नराधिप ॥ २६ ॥ इत्युक्त्वा स धर्मात्मा वृद्धो राजा
कुरूद्वहः । गान्धारीं शिश्रिये धीमान् सहसैव गतासुवत् ॥२७॥
तं तु दृष्ट्वा समासीनं विसंज्ञमिव कौरवं । आर्तिं राजा गमत् तीव्रां
कौन्तेयः परवीरहा ॥ २८ ॥ ततोऽस्य पाणिना राजञ्जलशीतेन
पाण्डवः । उरोमुखं च शनकैः पर्यमार्जत धर्मवित् ॥ २९ ॥ तेन
रत्नौषधिमता पुण्येन च सुगन्धिना । पाणिस्पर्शेन राज्ञः स राजा
संज्ञामवाप ह ॥ ३० ॥ धृ० उ० अष्टमो ह्यद्य कालोय माशरस्य
कृतस्य मे । येनाहंकुरुशार्दूल शक्नोमि न विचेष्टितुं ॥ ३१ ॥
व्यायामश्चाय मत्यर्थं कृतस्त्वामभियाचता । ततो ग्लानमनास्तात
नष्टसंज्ञ इवाभवं ॥ ३२ ॥ उपलभ्य ततः प्राणान् धृतराष्ट्रो मही-

पतिः । बाहुभ्यां संपरिष्वज्य मूर्ध्न्यं जिघ्रत पाण्डवं ॥३३॥ विदु-
रादयश्च ते सर्वे रुरुदुर्दुःखिता भृशं । अतिदुःखात्तु राजानं नोचुः
किञ्चिद पाण्डवं ॥ ३४ ॥ अथाब्रवीत् पुनर्वाक्यं धृतराष्ट्रो युधि-
ष्ठिरं । अनुजानीहि मां राजंस्तापस्ये भरतर्षभ ॥ ३५ ॥ ग्लाय
ते मे मनस्तात भूयो भूयः प्रजल्पतः । न मामतः परं पुत्र परि-
क्लेष्टु मिहार्हसि ॥ ३६ ॥ यु० उ० न कामये नरश्रेष्ठ जीवितं
पृथिवींतथा । यथा तव प्रियं राजंश्चिकीर्षामि परंतप ॥ ३७ ॥
यदि चाहमनुग्राह्यो भवतो दयितोपि वा । क्रियतां तावदाहार-
स्ततो वेत्स्याम्यहं परं ॥ ३८ ॥ ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रो
युधिष्ठिरं । अनुज्ञातस्त्वया पुत्र भुञ्जीयामिति कामये ॥ ३९ ॥
इति ब्रुवति राजेन्द्रे धृतराष्ट्रे युधिष्ठिरं । ऋषिः सत्यवतीपुत्रो
व्यासोऽभ्येत्य वचोऽब्रवीत् ॥ ४० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—अहो आप की गम्भीरता के कारण मैं धोखे में पड़ा रहा, जो मुझे आपने (अपने सुख पूर्वक रहने का) विश्वास दिला कर यह दुःख भोग किया ॥१७॥ हे मही-पाल ! मुझे राज्य से भोगों से यज्ञों से और सुख से क्या प्रयोजन, जब कि आप जो मेरे पूजनीय हैं, इतने दुःखों को प्राप्त हुए ॥ १८ ॥ आप हमारे पिता माता और परमगुरु हैं, आप से हीन हुए हम किस पर भरोसा करें ॥ १९ ॥ मैं वन को जाता हूं, आप राज्यशासन कीजिये, पहले ही अपयश से संदग्ध हुए मुझ को आप और दग्ध करने योग्य नहीं हैं ॥ २० ॥ हे निष्पाप ! सुयोधन की बातों का अब हमारे हृदय में कोई शोक नहीं है, ऐसा ही होना था, जिस से हम और दूसरे सब मोहे गए॥२१॥ सो यदि हे राजेन्द्र मुझे छोड़ कर आप चले जाएंगे, तो मैं आप

के पीछे जाऊंगा, सत्य से अपने शरीर पर हाथ धरता हूं ॥ २२ ॥ समुद्र की मेखला वाली, धन से भरी यह सारी भूमि मुझे आप से बिछड़े हुए को सुख नहीं देगी ॥ २३ ॥ यह सब कुछ आप का ही है, शिर झुका कर आप को प्रसन्न करता हूं, हे राजेन्द्र हम आप के अधीन हैं, आप का मानस संताप दूर होना चाहिये ॥ २४ ॥ धृतराष्ट्र बोले—हे तात ! अब मेरा मन तपश्चर्या में लग रहा है, हे प्रभो हमारे कुल में वनगमन उचित ही है ॥ २५ ॥ हे पुत्र मैं बहुत काल यहां ठहरा हूं, बहुत काल तक तुमने सेवा की है, हे राजन्!अब वृद्ध मुझ को आप अनुज्ञा देने योग्य हैं ॥ २६ ॥ यह कह कर वह वृद्ध धर्मात्मा अचानक ही अचेत की भांति गान्धारी की टेक लगा कर बैठ गया॥२७॥ अचेत से होकर बैठे उस कौरव को देख कर शत्रुवीरों के मारने वाला युधिष्ठिर तीव्र पीड़ा को प्राप्त हुआ॥ २८ ॥ तब हे राजन् युधिष्ठिर ने जल से शीतल हाथ से उस की छाती और मुख को धीरे २ मार्जन किया॥ २९ ॥ उस रत्न और औषधियों से युक्त, सुगन्धी वाले पवित्र हस्तस्पर्श से राजा को होश आई ॥ ३० ॥ धृतराष्ट्र बोले—आज आहार किये मुझे यह आठवां काल है, इस से हे कुरुवर मैं कोई चेष्टा नहीं कर सकता हूं ॥ ३१ ॥ आप को बार २ निवेदन करने से मुझे अत्यन्त व्यायाम होगया है, इस से मेरा मन थक गया और मैं अचेतसा होगया ॥ ३२ ॥ फिर कुछ शक्ति पा कर धृतराष्ट्र ने दोनों भुजाओं से युधिष्ठिर को गले लगा कर मस्तक पर चूमा ॥३३॥ विदुर आदि सब दुःखित हुए रोने लगे, अति दुःख के कारण राजा युधिष्ठिर से कुछ न

कह सके ॥ ३४ ॥ अब धृतराष्ट्र फिर युधिष्ठिर से वचन बोले, हे राजन् ! मुझे अब तपश्चर्या में अनुज्ञा दीजिये ॥ ३५ ॥ हे तात वार २ बात करने से मेरा मन क्षीण होता है, हे पुत्र इस से आगे मुझे और क्लेश न होने देवें ॥३६॥युधिष्ठिर बोले—हे नर-श्रेष्ठ ! मैं राज्य को वा जीवन को वैसा नहीं चाहता हूं, हे राजन्! जैसा आप का प्रिय करना चाहता हूं ॥ ३७ ॥ यदि आप का मैं अनुग्राह्य हूं और आप का प्यारा हूं, तो पहले आहार कीजिये, तब मैं दूसरी कोई बात सोचूंगा ॥ ३८ ॥ तब महा तेजस्वी धृतराष्ट्र युधिष्ठिर से बोले, हे पुत्र तेरी अनुज्ञा से मैं खाऊंगा, यह मैं चाहता हूं ॥ ३९ ॥ जब धृतराष्ट्र युधिष्ठिर को ऐसा कह रहे थे, उसी समय सत्यवती पुत्र व्यास आ कर यह वचन बोले॥४०॥

अ० ३ (व०५-१७) धृतराष्ट्र आदि का वनगमन

मूल—व्या० उ० राजायं वृद्धतां प्राप्तः प्रमाणे परमेस्थितः ॥ १ ॥ सोऽयं मयाभ्यनुज्ञातस्त्वया च पृथिवीपतिः । करोतु स्वमभिप्रायं मास्म विघ्नकरो भव ॥ २ ॥ एष एव परो धर्मो राजर्षीणां युधिष्ठिर । समरे वा भवेन्मृत्युर्वने वा विधिपूर्वकं ॥ ३ ॥ अनुजानीहि पितरं समयोऽस्य तपो विधौ । न मन्युर्विद्यते चास्य सुसूक्ष्मोपि युधिष्ठिर ॥ ४ ॥ ततो राज्ञाभ्यनुज्ञातो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् । ययौ स्वभवनं राजा गान्धार्यानुगतस्तदा ॥ ५ ॥ मन्दप्राणगतिर्धीमान् कृच्छ्रादिव समुद्वहन् । पदानि स महीपालो जीर्णो गजपतिर्यथा ॥ ६ ॥ स प्रविश्य गृहं राजा कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः । तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठानाहारमकरोत्तदा ॥ ७ ॥ ततः प्रभाते राजा स धृतराष्ट्रोम्बिकासुतः । आनाय्य पाण्डवान् वीरान्

वनवासे कृतक्षणः ॥ ८ ॥ गान्धारीसहितो धीमानभ्यनन्दद्यथाविधि। कार्तिक्यां कारयित्वेष्टिं ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ ९ ॥ अग्निहोत्रं पुरस्कृत्य वल्कलाजिन संवृतः । बन्धूजनवृतो राजा निर्ययौ भवनात्ततः ॥ १० ॥

अर्थ—व्यास बोले—राजा यह पूरे बुढ़ापे को पहुंच गए हैं, आप के लिए परम प्रमाण हैं ॥ १ ॥ सो यह भूपति अब तुम से और मुझ से अनुज्ञा पाकर अपने अभिप्राय को पूरा करे, आप इस में विघ्नकारक न बनें ॥ २ ॥ हे युधिष्ठिर राजऋषियों का यही परमधर्म है, कि या तो संग्राम में मृत्यु हो, वा बन में विधिपूर्वक ॥ ३ ॥ पिता को अनुज्ञा दीजिये, अब इस के तपोऽनुष्ठान का ही समय है, हे युधिष्ठिर इस को कोई यत्किञ्चित् भी क्रोध नहीं है॥ ४ ॥ तब युधिष्ठिर से अनुज्ञा पा कर प्रतापी धृतराष्ट्र गान्धारी के साथ अपने घर को गया ॥ ५ ॥ थोड़े बल से मन्दगति वह बुद्धिमान् वृद्ध हाथी की भांति बड़े कष्ट से पाओं उठाता हुआ गया ॥ ६ ॥ घर में प्रवेश कर प्रातः कृत्य को पूर्ण कर ब्राह्मणों को भोजन करा कर उस ने स्वयं भोजन किया ॥ ७ ॥ अनन्तर प्रभात के समय राजा धृतराष्ट्र ने वनवास का निश्चय कर पाण्डवों को बुलवाया ॥ ८ ॥ गान्धारीसहित राजा ने यथाविधि उन पर प्रसन्नता प्रकाशित की, कार्तिकी पौर्णमासी के दिन वेदपारग ब्राह्मणों से इष्टि करवा के,अग्निहोत्र को आगे कर, बकले और मृगान पहन कर बन्धुजनों से घिरा हुआ राजा भवन से बाहर निकला ॥ ९–१० ॥

मूल—ततो राजा प्राञ्जलिर्वेपमानो युधिष्ठिरः सस्वरं बाष्पकण्ठः। विमुच्योच्चैर्महानादं हि साधो क्व यास्यसीत्यपतत्तात

भूमौ ॥ ११ ॥ वृकोदरः फल्गुनश्चैव वीरौ माद्रीपुत्रौ विदुरः संजयश्च । वैश्यापुत्रः सहितो गौतमेन धौम्यो विप्राश्चान्वयुर्बाष्पकण्ठाः ॥ १२ ॥ कुन्ती गान्धारीं बद्धनेत्रां व्रजन्तीं स्कन्धासक्तं हस्तमथोद्वहन्ती । राजा गान्धार्याः स्कन्धदेशेऽवसज्य पाणिं ययौ धृतराष्ट्रः प्रतीतः॥१३॥ततो निष्पेतुर्ब्राह्मण क्षत्रियाणां विट्शूद्राणां चैव भार्याः समन्तात् । तन्निर्याणे दुःखितः पौरवर्गो गजाह्वये चैव बभूव राजन् ॥ १४ ॥ स राजा राजमार्गेण नृनारीसंकुलेन च । कथञ्चिन्निर्ययौ धीमान् वेपमानः कृताञ्जलिः ॥१५॥ स वर्धमानद्वारेण निर्ययौ गजसाह्वयात् । विसर्जयामास च तं जनौघं स मुहुर्मुहुः ॥ १६ ॥ वनं गन्तुं च विदुरो राज्ञा सह कृतक्षणः । संजयश्च महामात्रः सूतो गावल्गणिस्तथा ॥ १७ ॥ कृपं निवर्तयामास युयुत्सुं च महारथं । धृतराष्ट्रो महीपालः परिदाय युधिष्ठिरं ॥ १८ ॥ निवृत्ते पौरवर्गे च राजा सान्तःपुरस्तदा । धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातो निवर्तितुमियेषह ॥ १९ ॥ सोऽब्रवीन्मातरं कुन्तीं वनं तमनुजग्मुषीं । अहं राजानमन्विष्ये भवती विनिवर्तताम् ॥ २० ॥ वधूपरिवृता राज्ञि नगरं गन्तुमर्हसि ॥ २१ ॥ इत्युक्ता धर्मराजेन बाष्पव्याकुललोचना । जगामैव तदा कुन्ती गान्धारीं परिगृह्य ह ॥ २२ ॥

अर्थ—तब राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े कांपता हुआ आंसुओं से भरे कण्ठ वाला ऊंचे स्वर से रुदन करता हुआ 'हे तात कहां जाते हैं' यह कह कर भूमि पर गिर पड़ा ॥ ११ ॥ भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, विदुर, संजय, युयुत्सु, कृपाचार्य, धौम्य और अन्य ब्राह्मण आंसु बहाते हुए उन के पीछे गए॥१२॥ कुन्ती बन्धे नेत्रों वाली चलती गान्धारी के हाथ को अपने कन्धे

पर रख कर चलने लगी और राजा धृतराष्ट्र गान्धारी के कन्धे पर अपना हाथ रख कर चलने लगा ॥१३॥ उस समय ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्रों की स्त्रियें चारों ओर से और सारा पौरवर्ग उन के निकलने के समय दुःखित हुआ ॥ १४ ॥ नरनारियों से भरे राजमार्ग से धृतराष्ट्र हाथ जोड़े कांपता हुआ कथंचिद बाहर निकला ॥ १५ ॥ वह वर्धमान द्वार से हस्तिनापुर से निकला, और उस जन समुदाय को बार २ उस ने विदा किया ॥ १६ ॥ बन जाने के लिए राजा के साथ विदुर और महामात्र संजय भी तय्यार हो गए ॥ १७ ॥ राजा धृतराष्ट्र ने कृपाचार्य और युयुत्सु को युधिष्ठिर को सौंपना कर के लौटाया ॥ १८ ॥ पौरवर्ग के लौटने पर धृतराष्ट्र से अनुज्ञा पा कर अन्तःपुर समेत युधिष्ठिर लौटने को तय्यार हुआ ॥ १९ ॥ धृतराष्ट्र के पीछे बन जाने को तय्यार हुई कुन्ती से युधिष्ठिर बोले (बन में इन की सेवा अभीष्ट है, तो) मैं राजा के साथ जाऊंगा, आप लौट चलें ॥ २० ॥ बन्धुओं से युक्त हो कर हे मातः तुम्हें नगर चलना चाहिये ॥ २१ ॥ धर्मराज से यह सुन कर आंसुओं से भरे नेत्रों वाली कुन्ती गान्धारी को लेकर जाने के लिए ही निश्चित रही ॥ २२ ॥

मूल—मुहूर्तमिव तु ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः । उवाच मातरं दीनश्चिन्ताशोक परायणः ॥ २३ ॥ क्यचोद्यः पुरास्माकं सुतसाहं शुभदर्शने । विदुलायावचोभिस्त्वं नास्मान् संत्यक्तु मर्हसि ॥ २४ ॥ निहत्य पृथिवीपालान् राज्यं प्राप्तमिदं मया । तव प्रज्ञा मुपश्रुत्य वासुदेवान्नरर्षभात ॥ २५ ॥ अस्मानुत्सृज्य राज्यं च स्नुषाहीना यशस्विनि । कथं वत्स्यासि दुर्गेषु वनेष्वम्ब प्रसीद मे

॥ २६ ॥ इति बाष्पकला वाचः कुन्ती पुत्रस्य शृण्वती । जगामैवाश्रुपूर्णाक्षी भीमस्तामिदमब्रवीत ॥ २७ ॥ किं वयं कारिताः पूर्वं भवत्या पृथिवीक्षयं । कस्य हेतोः परित्यज्य वनं गन्तु मभीप्ससि ॥ २८ ॥ वनाच्चापि किमानीता भवत्या बालका वयं । दुःख शोकसमाविष्टौ माद्रीपुत्राविमौ तथा ॥ २९ ॥ प्रसीद मातर्मागास्त्वं वनमद्य यशस्विनि । श्रियं यौधिष्ठिरं मातुर्भुङ्क्ष्व तावद्बलार्जितां ॥ ३० ॥इति सा निश्चितैवाशु वनवासाय भाविनी । लालप्यतां बहुविधं पुत्राणां नाकरोद्वचः ॥ ३१ ॥ द्रौपदी चान्वयाच्छ्वश्रूं विषण्णवदना तदा । वनवासाय गच्छन्तीं रुदतीं भद्रया सह ॥ ३२ ॥ सा पुत्रान् रुदतः सर्वान् मुहुर्मुहुरवेक्षती । जगामैव महाप्राज्ञा वनाय कृतनिश्चया ॥ ३३ ॥ अन्वयुः पाण्डवास्तां तु सभृत्यान्तः पुरास्तथा । ततः प्रमृज्य साश्रूणि पुत्रान् वचन मब्रवीत ॥ ३४ ॥

अर्थ–थोड़ी देर सोच कर दीन हुआ चिन्ता और शोक में डूबा हुआ राजा युधिष्ठिर माता से बोला ॥ २३ ॥हे मातः! पहले आप विदुला के वचनों से हमें उत्साह दे कर अब हमारा त्याग करने योग्य नहीं हो ॥ २४ ॥ पुरुषोत्तम कृष्ण द्वारा आप की आज्ञा को सुन कर राजाओं को मार कर यह राज्य मैंने पाया है ॥ २५ ॥ हे यशस्विनि हमें छोड़ कर स्नुषाओं से बिछड़ कर कैसे अब दुर्गम वनों में वास करोगी, मेरे ऊपर कृपा करो॥२६॥ इस प्रकार आंसुओं से गद्गद पुत्र के वचन सुनती हुई कुन्ती रोती हुई चली ही गई, तब भीम उस से बोला ॥२७॥ हे मातः! आपने हम से किस लिए पृथिवी का क्षय करवाया, किस कारण हमें त्याग कर आप वन जाना चाहती हैं ॥ २८ ॥ वन से ही

इन बालकों को तथा इन माद्री पुत्रों को, जो इस समय दुःख शोक से भरे हैं, आप क्यों लाई थीं ॥२९॥ कृपा-करो हे मातः! अब वन को न जाओ, बल से कमाई अपने पुत्र की राज्यश्री को भोगो॥३०॥पर वनवास के लिए निश्चित हुई कुन्ती ने अनेक प्रकार से विलपते हुए पुत्रों की बात को न ही माना ॥ ३१ ॥ तब रोती हुई वन की ओर जाती हुई कुन्ती के पीछे २ उदास हुई द्रौपदी भी सुभद्रा सहित चलने लगी ॥ ३२ ॥ वन के लिए निश्चित हुई कुन्ती रोते हुए सारे पुत्रों को बार २ देखती हुई चली ही गई ॥ ३३ ॥ भृत्यों और स्त्रियों समेत पाण्डव उस के पीछे गए, तब आंसु पोंछ कर वह पुत्रों से यह वचन बोली॥३४॥

अ० ४ (व० १८-१९)

मूल—एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि पाण्डव । कृतमुद्धर्षणं पूर्वं मया वः सीदतां नृपाः ॥ १ ॥ द्यूतापहृतराज्यानां पतितानां सुखादपि । ज्ञातिभिः परिभूतानां कृतमुद्धर्षणं मया॥२॥ कथं पाण्डोर्न नश्येत सन्ततिः पुरुषर्षभाः । यशश्च वो न नश्येत इति चोद्धर्षणं कृतं ॥ ३ ॥ यूयमिन्द्र समाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः । मा परेषां मुखप्रेक्षाः स्थेत्येवं तत्कृतं मया ॥ ४ ॥ इयं च बृहती श्यामा तथायतलोचना । वृथा सभातले क्लिष्टा माभूदिति च तत्कृतं ॥ ५ ॥ प्रेक्षतामेव वो भीम वेपन्तीं कदलीमिव । दुःशासनो यदा मौर्ख्याद् दासीवत् पर्यकर्षत ॥ ६ ॥ तदैव विदितं मह्यं पराभूत मिदं कुलं ॥ ७ ॥ युष्मत्तेजोविवृद्ध्यर्थं मया ह्युद्धरणं कृतं । तदानीं विदुला वाक्यैरिति तद्विद्ध पुत्रकाः ॥ ८॥ कथं न राजवंशोऽयं नश्येत प्राप्य सुतान् मम । पाण्डोरिति मया

पुत्रास्तस्मादुद्धरणं कृतं ॥ ९ ॥ भुक्तं राज्य फलं पुत्रा भर्तुर्मे विपुलं पुरा । महादानानि दत्तानि पीतः सोमो यथाविधि ॥१०॥ नाहमात्म फलार्थं वै वासुदेव मचूचुदं । विदुलायाः प्रलापैस्तैः पालनार्थं च तत्कृतं ॥ ११ ॥ नाहं राज्यफलं पुत्राः कामये पुत्र निर्जितं । पतिलोकानहं पुण्यान् कामये तपसा विभो ॥ १२ ॥ श्वश्रूश्वशुरयोः कृत्वा शुश्रूषां वनवासिनोः । तपसा शोषयिष्यामि युधिष्ठिर कलेवरं ॥ १३ ॥ निवर्तस्व कुरुश्रेष्ठ भीमसेनादिभिः सह । धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्तु महदस्तु च ॥ १४ ॥

कुन्ती—हे महाबाहो युधिष्ठिर ऐसे ही है, जो तुम कहते हो, मैंने तुम को दुःख देख कर पहले उत्साह दिया है ॥१॥ जुए में तुम्हारा राज्य छिन गया, सुख से भी भ्रष्ट हुए, ज्ञातियों से पराभूत हुए, ऐसे जान कर मैंने तुम्हें प्रोत्साहन किया ॥ २ ॥ पाण्डु की सन्तति और तुम्हारा यश जैसे लुप्त न हो, इस से मैंने तुम्हें प्रोत्साहन किया ॥ ३ ॥ तुम सब इन्द्र के समान, देवताओं के तुल्य पराक्रम वाले, हो कर तुम दूसरों के मुखों की ओर देखने वाले न बनो, इस लिए मैंने तुम्हें प्रोत्साहन किया ॥ ४ ॥ यह विशालाकृति विशाल नेत्रों वाली द्रौपदी फिर कभी सभा के अन्दर व्यर्थ क्लेश न उठाए, इस से मैंने प्रोत्साहन किया ॥५॥ हे भीम जब दुःशासन ने कदली की भांति कांपती हुई द्रौपदी को तुम्हारे सामने ही खींचा था, तभी मैंने जान लिया था, कि अब यह कुल पराजित हुआ ॥ ६—७ ॥ हे पुत्रो उस समय मैंने तुम्हारे तेज की वृद्धि के लिए विदुला के वचनों से तुम्हारा उत्साह बढ़ाया था ॥ ८ ॥ कैसे यह राजवंश पाण्डु से मेरे पुत्रों तक पहुंच कर न नष्ट होजाए, इस से मैंने हे पुत्रो ! तुम्हारा

प्रोत्साहन किया ॥ ९ ॥ हे पुत्रो ! मैंने पूर्वकाल में अपने पति के राज्य का फल भोग लिया है, महादान दिये हैं यथाविधि सोम पिया है ॥ १० ॥ मैंने अपने किसी प्रयोजन के लिए विदुला के वाक्यों से कृष्ण के हाथ संदेश नहीं भेजा था किन्तु तुम्हारी रक्षा के लिए यह सब किया था ॥ ११ ॥ हे पुत्रो ! मैं पुत्रों से जीते राज्यफल को नहीं चाहती, हे समर्थ ! तप से पवित्र लोकों को प्राप्त होना चाहती हूं ॥ १२ ॥ वन में रहते श्वश्रू और श्वशुर की सेवा करती हुई इस कलेवर को तप से सुखाऊंगी ॥ १३ ॥ हे कुरुवर तुम भीम आदि को साथ ले कर लौट जाओ, तेरी बुद्धि धर्म में लगे और तेरा हृदय विशाल हो ॥ १४ ॥

मूल—कुन्त्यास्तु वचनं श्रुत्वा पाण्डवा राजसत्तम । व्रीडिताः संन्यवर्तन्त पाञ्चाल्या सह भारत ॥ १५ ॥ ततः शब्दो महानेव सर्वेषां प्रभवत्तदा । अन्तः पुराणां रुदतां दृष्ट्वा कुन्तीं तथागतां ॥ १६ ॥ प्रदक्षिण मथावृत्य राजानं पाण्डवास्तदा । अभिवाद्य न्यवर्तन्त पृथां तामनिवर्त्य वै ॥ १७ ॥ ततोऽब्रवीन्महातेजा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः । गान्धारीं विदुरं चैव समाभाष्यावगृह्य च ॥ १८ ॥ युधिष्ठिरस्य जननी देवी साधु निवर्त्यतां । यथा युधिष्ठिरः प्राह तत्सर्वं सत्यमेव हि ॥ १९ ॥ पुत्रैश्वर्यं महदिदमपास्य च महाफलं । कानुगच्छेद्वनं दुर्गं पुत्रानुत्सृज्य मूढवत् ॥ २० ॥ राज्यस्थया तपस्तप्तुं कर्तुं दानव्रतं महत् । अनया शक्य मेवाद्य श्रूयतां च वचोमम ॥ २१ ॥ गान्धारि परितुष्टोस्मि वध्वाः शुश्रूषणेन वै । तस्मात्त्वमेनां धर्मज्ञे समनुज्ञातु मर्हसि ॥ २२ ॥ इत्युक्ता सौबलेयीतु राज्ञा कुन्ती मुवाच ह । तत्सर्वं राजवचनं स्वं च वाक्यं विशेषवत् ॥ २३ ॥ न च सा वनवासाय देवीं कृतमतिं तदा ।

शक्नोत्युपा वर्तयितुं कुन्तीं धर्मपरां सतीं ॥ २४ ॥ तस्यास्तां तु स्थितिं ज्ञात्वा व्यवसायं कुरुस्त्रियः । निवृत्तांश्च कुरुश्रेष्ठान् दृष्ट्वा पुरुरुदुस्तदा ॥ २५ ॥ उपावृत्तेषु पार्थेषु सर्वास्वेव वधूषु च । ययौ राजा महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो वनं तदा ॥ २६ ॥ पाण्डवाश्चाति दीनास्ते दुःखशोक परायणाः । यानैः स्त्री सहिताः सर्वे पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २७ ॥ तदहृष्टमनानन्दं गतोत्सव मिवाभवत् । नगरं हास्तिनपुरं सस्त्री वृद्ध कुमारकं ॥ २८ ॥ धृतराष्ट्रस्तु तेनान्हा गत्वा सुमहदन्तरं । ततो भागीरथी तीरे निवासमकरोत्प्रभुः ॥ २९ ॥ ततो भागीरथी तीरात् कुरुक्षेत्रं जगाम सः । आससादाथ राजर्षिं शतयूपं मनीषिणं ॥ ३० ॥ सहि राजा महानासीत् केकयेषु परंतपः । स्वपुत्रं मनुजैश्वर्ये निवेश्य वनमाविशत् ॥ ३१ ॥ तेनासौ सहितो राजा ययौ व्यासाश्रमं प्रति ॥ ३२ ॥ स दीक्षां तत्र संप्राप्य राजा कौरवनन्दनः । शतयूपाश्रमे तस्मिन्निवास मकरोत् तदा ॥ ३३ ॥ तस्मै सर्वं विधिं राज्ञे राजाचख्यौ महामतिः । आरण्यकं महाराज व्यासस्यानुमते तदा ॥ ३४ ॥ कर्मणा मनसा वाचा चक्षुषा चैव ते नृप । संनियम्येन्द्रियग्राम मास्थिताः परमं तपः ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे राजसत्तम कुन्ती के वचन को सुन कर लज्जित हो कर पाण्डव द्रौपदी सहित लौट आए ॥ २५ ॥ उस समय कुन्ती को ऐसी अवस्था में देख कर रुदन करती हुई अन्तःपुर की स्त्रियों का बड़ा शब्द हुआ ॥ २६ ॥ तब पाण्डव राजा की प्रदक्षिणा कर के और कुन्ती को बिना लौटाए अभिवादन कर के लौटे ॥ २७ ॥ तब महातेजस्वी धृतराष्ट्र गान्धारी और विदुर को संभाषण पूर्वक रोक कर बोले ॥ २८ ॥ युधिष्ठिर की जननी को ठीक लौटाना ही चाहिये, जो युधिष्ठिर ने कहा है. वह सब

सत्य ही है ॥ १९ ॥ पुत्र के महाफल वाले इतने बड़े ऐश्वर्य को छोड़ कर और पुत्रों को छोड़ कर कौन मूढ़ की भांति दुर्गम वन में जाए ॥ २० ॥ यह राज्य में रह कर तप तपती सकती है, और बड़ा दान देसकती है, सो मेरा वचन सुनो ॥ २१ ॥ हे गान्धारि ! मैं बहू (कुन्ती) की अबतक की सेवा से प्रसन्न हूं, इस लिए हे धर्मज्ञे तू अब इस को लौटाने योग्य है ॥ २२ ॥ यह सुन कर गान्धारी ने कुन्ती से राजा का वह सारा वचन कहा, और अपना वाक्य और भी अधिक कर के कहा ॥२३॥ पर वह वन के लिए निश्चय कर चुकी धर्मपरायणा देवी कुन्ती को लौटा न सकी ॥ २४ ॥ उस के ऐसे निश्चय को देख कर लौटे हुए कौरवों को देख कुरुस्त्रियें रोने लगीं ॥ २५ ॥ सब कौरवों के और सब बहुओं के लौट जाने पर महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्र वन को गया ॥ २६ ॥ पाण्डव अति दीन हुए दुःख और शोक में डूबे हुए स्त्रियों सहित यानों द्वारा पुर में प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥ हस्तिनापुर स्त्री वृद्ध बच्चों समेत बिना हर्ष बिना आनन्द के दूर हुए उत्सव वाले के समान भासता था ॥ २८ ॥ धृतराष्ट्र ने उस दिन बहुत दूर जा कर गंगा के तट पर निवास किया ॥ २९ ॥ फिर गंगातट से वह कुरुक्षेत्र में गया, वहां राजऋषि शतयूप के पास गया ॥ ३० ॥ जो केकय देशों का बड़ा राजा राज्य के ऐश्वर्य पर पुत्र को स्थापन कर के वन में आया था ॥ ३१ ॥ वहां धृतराष्ट्र व्यासजी से दीक्षा ले कर शतयूप के आश्रम में रहने लगा ॥ ३२ ॥ उस महामति ने व्यास की अनुमति से राजा धृतराष्ट्र को वानप्रस्थों की सारी विधि सिखलाई ॥ ३४ ॥ हे राजन् वहां वे सारे इन्द्रिय समूह को वश में

कर के मन वाणी नेत्र और कर्म से परम तप में लग गए ॥३५॥

अ०५(व०२३-२६)युधिष्ठिरादि का धृतराष्ट्र के निकट गमन

मूल—पाण्डवाश्चैव ते सर्वे भृशं शोकपरायणाः । शोच-न्तो मातरं वृद्धामूषुर्नातिचिरं पुरे ॥ १ ॥ तथैव वृद्धं पितरं हतपुत्रं जनेश्वरं । गान्धारीं च महाभागां विदुरं च महामतिं॥२॥ अचिन्तयंश्च जननीं ततस्ते पाण्डुनन्दनाः । कथं नु वृद्धमिथुनं वहत्यति कृशा पृथा ॥ ३ ॥ कथं च स महीपालो हतपुत्रो नि-राश्रयः । पत्न्या सहवसत्येको वने श्वापदसेविते ॥ ४ ॥ सा च देवी महाभागा गान्धारी हतबान्धवा। पतिमन्धं कथं वृद्धमन्वेति विजने वने ॥ ५ ॥एवं तेषां कथयतामौत्सुक्यमभवत्तदा । गमने चाभवद् बुद्धिर्धृतराष्ट्रदिदृक्षया ॥ ६ ॥ सेनाध्यक्षान् समानाय्य सर्वानिदमुवाच ह । निर्यातयत मे सेनां प्रभूतरथकुञ्जरां ॥ ७॥ एवमाज्ञाप्य राजा स भ्रातृभिः सह पाण्डवः । श्वोभूते निर्ययौ राजन् सस्त्रीवृद्धपुरःसरः ॥ ८ ॥ नदीतीरेषु रम्येषु सरःसु च विशांपते । वासान् कृत्वा क्रमेणाथ जग्मुस्ते कुरुपुंगवाः ॥९॥ ततो युधिष्ठिरो राजाकुरुक्षेत्रमवातरत् ॥ १० ॥ ततस्ते पाण्डवा दूरादवतीर्य पदातयः । अभिजग्मुर्नरपतेराश्रमं विनयान्विताः ॥११॥स च योधजनः सर्वो ये च राष्ट्रनिवासिनः । स्त्रियश्च कुरु-मुख्यानां पद्भिरेवान्वयुस्तदा ॥ १२ ॥

अर्थ—वे पाण्डव सारे अत्यन्त शोकपरायण हुए वृद्धा माता की हतपुत्र वृद्ध पिता की, तथा गान्धारी और विदुर की चिन्ता में बहुत देर पुर में नहीं रहे ॥ १–२ ॥ वे पाण्डुनन्दन सोचते, कि कैसे हमारी दुर्बल माता उन दोनों वृद्धों को ले जाती होगी

॥ ३ ॥ कैसे वह हतपुत्र राजा निराश्रय हुआ अकेला पत्नी के साथ श्वापदों वाले वन में रहता होगा ॥ ४ ॥ कैसे हतबान्धवा देवी गान्धारी विजन वन में वृद्ध अन्ध पति का अनुगमन करती होगी ॥ ५ ॥ इस प्रकार की बातें करते हुए उन की उत्कण्ठा बढ़ी, और उन को धृतराष्ट्र के देखने की बुद्धि उत्पन्न हुई ॥६॥ युधिष्ठिर ने सारे सेनाध्यक्षों को बुला कर यह कहा, बहुत से हाथी घोड़ों समेत मेरी सेना को तय्यार करो॥ ७ ॥ इस प्रकार आज्ञा दे कर भाइयों सहित तथा स्त्रियों और वृद्धों सहित युधिष्ठिर दूसरे दिन निकला ॥ ८ ॥ रमणीय नदी तीरों और सरोवरों पर क्रम से वास करते हुए गए ॥ ९ ॥ तब राजा युधिष्ठिर कुरुक्षेत्र में पहुंचा ॥ १० ॥ तब वे पाण्डव दूर से ही उतर कर विनीतभाव से राजा के आश्रम की ओर गए ॥ ११ ॥ वह सारा योधवर्ग और राष्ट्र निवासी सारे जन और कुरुवरों की स्त्रियें पैदल ही उन के पीछे गईं ॥ १२ ॥

मूल—आश्रमं ते ततो जग्मुर्धृतराष्ट्रस्य पाण्डवाः । शून्यं मृगगणाकीर्णं कदलीवनशोभितं ॥ १३ ॥ ततस्तत्र समाजग्मुस्तापसा नियतव्रताः । पाण्डवानागतान् द्रष्टुं कौतूहलसमन्विताः ॥ १४ ॥ तानपृच्छत् ततो राजा क्वासौ कौरववंशभृत् । पिताज्येष्ठो गतोऽस्माकमिति बाष्पपरिप्लुतः ॥ १५ ॥ ते तमूचुस्ततो वाक्यं यमुनामवगाहितुं ॥ १६ ॥ तैराख्यातेन मार्गेण ततस्ते जग्मुरञ्जसा । ददृशुश्चाविदूरे तान् सर्वानथ पदातयः॥१७॥ सहदेवस्तु वेगेन प्राधावद् यत्र सा पृथा । सुस्वरं रुरुदे धीमान् मातुः पादावुपस्पृशन् ॥ १८ ॥ बाहुभ्यां संपरिष्वज्य समुन्नाम्य

च पुत्रकं । गान्धार्या कथयामास सहदेवमुपस्थितं ॥ १९ ॥ अ-
नन्तरं च राजानं भीमसेनमथार्जुनं । नकुलं च पृथा दृष्ट्वा त्वरमा-
णोपचक्रमे ॥ २० ॥ सा ह्यग्रे गच्छति तयोर्दम्पत्योर्हत पुत्रयोः।
कर्षन्ती तौ ततस्ते तां दृष्ट्वा संन्यपतन् भुवि ॥ २१ ॥ राजा तान्
स्वरयोगेन स्पर्शेन च महामनाः । प्रत्यभिज्ञाय मेधावी समाश्वास-
यत प्रभुः ॥ २२ ॥ ततस्ते बाष्पमुत्सृज्य गान्धारीसहितं नृपं ।
उपतस्थुर्महात्मानो मातरं च यथाविधि ॥ २३ ॥ सर्वेषां तोयक-
लशाञ्जगृहुस्ते स्वयं तदा । पाण्डवा लब्धसंज्ञास्ते मात्रा चाश्वा-
सिताः पुनः ॥ २४ ॥ निवेदयामास तदा जनं तन्नामगोत्रतः ।
युधिष्ठिरो नरपतिः स चैनं प्रत्यपूजयत् ॥ २५ ॥ स तैः परि-
वृतो मेने हर्षबाष्पाविलेक्षणः । राजात्मानं गृहगतं पुरेव गजसा-
ह्वये ॥ २६ ॥ अभिवादितो वधूभिश्च कृष्णाद्याभिः स पार्थिवः ।
गान्धार्या सहितो धीमान् कुन्त्या च प्रत्यनन्दत ॥ २७ ॥ तत-
श्चाश्रममागच्छत् सिद्धचारणसेवितं । दिदृक्षुभिः समाकीर्णं नभ-
स्तारागणैरिव ॥ २८ ॥

अर्थ—तब पाण्डव धृतराष्ट्र के आश्रम में गए, जो मृगगणों से भरा हुआ कदली वनों से शोभित था, उस समय उस में कोई पुरुष नहीं था ॥ १३ ॥ पाण्डवों को आए देख कौतूहल से भरे हुए नियत व्रतों वाले तपस्वी वहां आगए ॥ १४ ॥ आंसुओं से भीगे हुए राजा ने उन से पूछा, कौरववंश धारी हमारे ज्येष्ठ पिता कहां हैं ॥ १५ ॥ उन्होंने उस को उत्तर दिया, यमुना में स्नान करने को गए हैं ॥ १६ ॥ तब उन से बतलाए मार्ग से व सीधे वहीं गए—और पैदल चलते हुए उन्होंने निकट ही उन सब को देख लिया ॥ १७ ॥ सहदेव तो वहां दौड़ कर गया जहां

कुन्ती थी, और माता के पाओं छू कर जोर से रोया ॥ १८ ॥ कुन्ती भी दोनों भुजाओं से पुत्र को उठा कर और गले लगा कर गान्धारी से कहने लगी, सहदेव आया है ॥ १९ ॥ अनन्तर युधिष्ठिर भीम अर्जुन और नकुल को देख कर कुन्ती जल्दी आगे बढ़ी ॥ २० ॥ कुन्ती उस वृद्ध दम्पति को जो कि हतपुत्र हैं, खींचती हुई, उन के आगे जा रही थी, यह देख कर पाण्डव भूमि पर गिर पड़े ॥ २१ ॥ राजा ने स्वर के मेल और स्पर्श से उन को पहचान कर तसल्ली दी ॥ २२ ॥ तब आंसुएं बहाते हुए पाण्डवों ने गान्धारी, राजा और माता का यथाविधि पूजन किया ॥ २३ ॥ पाण्डवों ने उन सब के जल कलश स्वयं उठा लिये, बुद्धि को ठिकाने किया और माता ने भी उन को तसल्ली दी ॥ २४ ॥ तब राजा युधिष्ठिर ने अपने सारे साथियों के नाम गोत्र बतलाए, उन्हों ने धृतराष्ट्र की पूजा की और धृतराष्ट्र ने उन का प्रतिपूजन किया ॥ २५ ॥ उन से घिरे हुए हर्ष की आंसुओं से भरे नेत्रों वाले धृतराष्ट्र ने अपने आप को पूर्ववत् हस्तिनापुर में स्थित समझा ॥ २६ ॥ द्रौपदी आदि स्नुषाओं का प्रणाम स्वीकार कर गान्धारी और कुन्ती के साथ राजा ने स्वागत किया ॥२७॥ तब सिद्ध और चारणों से सेवित आश्रम में आया, जो देखने की इच्छा वाले तपस्वियों से ऐसे भरा हुआ चमक रहा था, जैसे आकाश तारागणों से ॥ २८ ॥

अ० ६ (व० २७-३६) युधिष्ठिर का हस्तिनापुर में पूत्यागमन

मूल—स तैः सह नरव्याघ्रभ्रातृभिर्भरतर्षभ । राजा रुचिरपद्माक्षैरासांचक्रे तदाश्रमे ॥ १ ॥ तापसैश्च महाभागैर्नानादेश

समागतैः । द्रष्टुं कुरुपतेः पुत्रान् पाण्डवान् पृथुवक्षसः ॥ २ ॥
तेऽब्रुवञ्ज्ञातुमिच्छामः कतमोऽत्र युधिष्ठिरः । भीमार्जुनौ यमौ
चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ३ ॥ तानाचख्यौ तदा सूतस्तेषां
नामप्रधानतः । संजयो द्रौपदीं चैव सर्वाश्चान्याः कुरुस्त्रियः॥४॥
ततस्ते वृक्षमूलेषु कृतवासपरिग्रहाः । तां रात्रिमवसन् सर्वे फल-
मूल जलाशनाः ॥ ५ ॥ व्यतीतायां तु शर्वर्यां कृतपौर्वाह्णिक-
क्रियः । भ्रातृभिः सहितो राजा ददर्शाश्रममण्डलं ॥ ६ ॥ मृग-
यूथैरनुद्विग्नैस्तत्र तत्र समाश्रितैः । अशंकितैः पक्षिगणैः प्रगीतै-
रिव च प्रभो ॥७॥ केकाभिर्नीलकण्ठानां दात्यूहानां च कूजितैः।
कोकिलानां कुहरवैः सुखैः श्रुतिमनोहरैः ॥ ८ ॥ प्राधीतद्विज-
घोषैश्च क्वचित् क्वचिद[illegible] । फलमूलसमाहारैर्महद्भिश्चोप
शोभितं ॥ ९ ॥ एवं स राजा धर्मात्मा परीत्याश्रममण्डलं । वसु-
विश्राण्य तत्सर्वं पुनरायान्महीपतिः ॥ १० ॥ वसत्सु पाण्डुपुत्रेषु
सर्वेष्वाश्रममण्डले । द्वैपायनोऽभ्युपागम्य राजानमिदमब्रवीत्
॥ ११ ॥ युधिष्ठिरः स्वयं धीमान् भवन्तमनु रुध्यते । सहितो
भ्रातृभिः सर्वैः सदारः ससुहृज्जनः ॥ १२ ॥ विसर्जयैनं यात्वेष
स्वराज्यमनुशासतां । मासः समधिकस्तेषामतीतो वसतां वने
॥ १३ ॥ एतद्धि नित्यं यत्नेन पदं रक्ष्यं नराधिप । बहुप्रत्यर्थिकं
ह्येतद्राज्यं नाम कुरूद्वह ॥ १४ ॥ इत्युक्तः कौरवो राजा व्यासे-
नामितबुद्धिना । युधिष्ठिरमथाहूय वाग्मी वचन मब्रवीत्॥१५॥
अजातशत्रो भद्रं ते शृणु मे भ्रातृभिः सह । त्वत्प्रसादान्महीपाल
शोको नास्मान् प्रबाधते ॥ १६ ॥ प्राप्तं पुत्रफलं त्वत्तः प्रीतिर्मे
परमा त्वयि । न मे मन्युर्महाबाहो गम्यतां मा चिरं कृथाः॥१७॥

ततो युधिष्ठिरो राजा सदारः सहसैनिकः । नगरं हस्तिनपुरं पुनरायात सबान्धवः ॥ १८ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर आश्रम में सुन्दर पद्म तुल्य नेत्रों वाले उन वीरवर भाइयों के और नाना देश से आए उन महाभाग तपस्वियों के साथ बैठे, जो कि विशाल छाती वाले पाण्डवों को देखने के लिए आए थे ॥ १-२ ॥ वे बोले हम जानते हैं, इन में युधिष्ठिर भीम अर्जुन नकुल और सहदेव कौनसा है तथा यशस्विनी द्रौपदी कौनसी है ॥३॥ उन को संजय ने बड़े के क्रम से उन के नाम ले २ कर बतलाया, द्रौपदी और अन्य सब कुरु-स्त्रियों के नाम भी बतलाए ॥ ४ ॥ तब उन्हों ने वृक्षों के नीचे वास किया, और फल मूल खा कर और जलपान कर के वह रात बिताई ॥ ५ ॥ रात के बीतने पर सवेर का नित्य नियम कर के युधिष्ठिर ने भाइयों समेत आश्रम मण्डल को देखा ॥ ६ ॥ जिन में स्थान २ पर निर्भय हो कर मृगयूथ चर रहे थे, पक्षिगण अशंकित हो कर गीत गा रहे थे ॥ ७ ॥ कहीं मोर केके कर रहे थे, कहीं दात्यूह बोल रहे थे, और कहीं कोइलें कानों को प्यारी लगने वाली कूकू सुना रही थीं ॥ ८ ॥ कहीं मुनियों की वेद-ध्वनि से शोभा पा रहा था, और कहीं फल मूल के ढेरों से शोभायमान था॥ ९ ॥ इस प्रकार वह राजा सारे आश्रममण्डल में घूम कर और अपने साथ लाया धन मुनियों को दे कर फिर आश्रम में आया ॥ १० ॥ आश्रम मण्डल में पाण्डवों के वास करते हुए एक दिन व्यासजी आ कर धृतराष्ट्र से बोले ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर भाइयों स्त्रियों और सुहृज्जनों समेत आप का आज्ञा-

कारी है ॥ १२ ॥ अब इस को विदा कीजिये, यह जा कर राज्य शासन करे, यहां रहते उस को एक मास से अधिक हो गया है ॥ १३ ॥ हे राजन् यह पद सदा यत्न से रक्षा करने योग्य होता है, हे कुरुवर राज्य के सामने बड़े विघ्न होते हैं॥१४॥ अमित बुद्धि व्यास से यह सुन कर युधिष्ठिर को बुला कर धृतराष्ट्र यह वचन बोले॥ १५ ॥ हे अजात शत्रो ! तेरा कल्याण हो, भाइयों सहित मेरा वचन सुनो, तुम्हारी अनुकूलता से हे राजन् ! हम शोकातुर नहीं रहे ॥ १६ ॥ तुझ से हमने पुत्रफल पाया है, मेरी तुझ में परमप्रीति है, हे महाबाहो ! मुझे कोई शोक नहीं, अब तुम जाओ, विलम्ब न करो ॥१७॥ तब राजा युधिष्ठिर स्त्रियों और सेनाओं और बान्धवों समेत फिर हस्तिनापुर में आया ॥ १८ ॥

अ० ७ (व० ३७-) धृतराष्ट्रादि की मृत्यु

मूल—द्विवर्षोपनिवृत्तेषु पाण्डवेषु यदृच्छया । देवर्षिर्नारदो राजन्नाजगाम युधिष्ठिरं ॥ १ ॥ तमभ्यर्च्य महाबाहुः कुरुराजो युधिष्ठिरः । आसीनं परिविश्वस्तं प्रोवाच वदतांवरः ॥ २ ॥ वदन्ति पुरुषा मेऽद्य गंगातीरनिवासिनः । धृतराष्ट्रं महात्मानमास्थितं परमं तपः ॥ ३ ॥ ना० उ० स्थिरीभूय महाराज शृणु वृत्तं यथातथं । यथाश्रुतं च दृष्टं च मया तस्मिंस्तपोवने ॥ ४ ॥ वनवासनिवृत्तेषु भवत्सु कुरुनन्दन । कुरुक्षेत्रात् पिता तुभ्यं गंगाद्वारं ययौ नृप॥ ५ ॥ आतस्थे स तपस्तीव्रं पिता तव तपोधनः। अनिकेतोऽथ राजा स बभूव वनगोचरः ॥ ६ ॥ सञ्जयो नृपतेर्नेता समेषु विषमेषु च। गान्धार्याश्च पृथा राजन् चक्षुरासीदनिन्दिता ॥७॥

ततः कदाचिद् गंगायाः कच्छे स नृपसत्तमः। गंगायामाप्लुतो
धीमानाश्रमाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥ अथ वायुसमुद्भूतो दावाग्नि-
रभवन्महान्। ददाह तद्वनं सर्वं परिगृह्य समन्ततः ॥ ९ ॥ निरा-
हारस्तथा राजा मन्दप्राणं विचेष्टितः। असमर्थोऽपसरणे सुकृशे
मातरौ च ते ॥ १० ॥ ततः स नृपतिर्दृष्ट्वा वन्हिमायान्तमन्ति-
कात्। इदमाह ततः सूतं संजयं जयतांवरं ॥ ११ ॥ गच्छ संजय
यत्राग्निर्न त्वां दहति कर्हिचित् ॥ १२ ॥ तमुवाच किलोद्विग्नः
संजयो वदतांवरः। राजन् मृत्युरनिष्टोऽयं भविता ते वृथाग्निना
॥ १३ ॥ न चोपायं प्रपश्यामि मोक्षणे जातवेदसः। यदत्रा-
नन्तरं कार्यं तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥ १४ ॥ इत्युक्तः सञ्जयेनेदं
पुनराह स पार्थिवः। नैष मृत्युरनिष्टो नः निःसृतानां गृहात्स्वयं
॥ १५ ॥ जलमग्निस्तथा वायुरथवापि विकर्षणं। तापसानां
प्रशस्यन्ते गच्छ सञ्जय माचिरं ॥ १६ ॥ इत्युक्त्वा संजयं राजा
समाधाय मनस्तथा। प्राङ्मुखः सह गान्धार्या कुन्त्या चोपाविश-
त्तदा ॥१७॥ सन्निरुध्येन्द्रियग्राममासीत् काष्ठोपमस्तदा॥ १८॥
गान्धारी च महाभागा जननी च पृथा तव। दावाग्निना समायुक्ते
स च राजा पिता तव ॥ १९ ॥ संजयस्तु महामात्रस्तस्माद्दावाद
मुच्यत। गंगाकूले मया दृष्टस्तापसैः परिवारितः ॥ २० ॥ स ता-
नामन्त्र्य तेजस्वी निवेद्यैतच्च सर्वशः। प्रययौ संजयो धीमान्
हिमवन्तं महीधरं॥ २१ ॥ एतच्छ्रुत्वा च सर्वेषां पाण्डवानां महा-
त्मनां। निर्याणं धृतराष्ट्रस्य शोकः समभवन्महान् ॥ २२॥ अहो-
धिगिति राजा तु विक्रुश्य भृशदुःखितः। ऊर्ध्वबाहुः स्मरन्मातुः
प्ररुरोद युधिष्ठिरः ॥ २३ ॥ भीमसेन पुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव
ते। अन्तःपुरेषु च तदा सुमहान् रुदितस्वनः ॥ २४ ॥

अर्थ—पाण्डवों को लौट कर आए दो वर्ष हो चुके थे, कि एक दिन अचानक देवर्षिनारद युधिष्ठिर के पास आया ॥ १ ॥ बोलने वालों में श्रेष्ठ महाबाहु युधिष्ठिर ने उस की पूजा की, जब वह बैठ कर स्वस्थ हुआ तो युधिष्ठिर उस से बोले॥२॥ गंगातीर वासी पुरुष बतलाते हैं, कि महात्मा धृतराष्ट्र परम तप में लगे हैं ॥ ३ ॥ नारद बोले—स्थिर हो कर हे महाराज यथार्थ वृत्तान्त को सुनिये, जैसा कि मैंने उस तपोवन में देखा और सुना है ॥ ४ ॥ हे कुरुनन्दन जब आप वनवास से लौटे, तो आप के पिता कुरुक्षेत्र से गंगाद्वार पर चले गये ॥ ५ ॥ वहां तपोधनी आप के पिता घोर तप तपने लगे, अब कोई आश्रय न ले कर वन में रहने लगे ॥ ६ ॥ संजय सम विषमों में राजा का नेता था, और कुन्ती गान्धारी की पवित्र आंख थी ॥ ७ ॥ वहां एक समय गंगा में स्नान कर के वह राजसत्तम आश्रम के अभिमुख गए ॥ ८ ॥ तब वायु के कारण (वृक्षों की रगड़ से) महान् वनाग्नि उत्पन्न हुआ, जो चारों ओर से वन को घेर कर दग्ध करने लगा ॥ ९ ॥ निराहार होने के कारण दुर्बल शक्ति राजा और दुर्बल तुम्हारी दोनों माताएं भाग निकलने के असमर्थ थीं ॥ १० ॥ तब वह राजा निकट आते अग्नि को देख कर संजय से यह वचन बोला ॥ ११ ॥ हे संजय तुम भाग जाओ, जहां कहीं तुम्हें अग्नि दग्ध न करे ॥ १२ ॥ वाग्मी संजय दुःखित हो कर बोला, हे राजा यह अनिष्ट मृत्यु आप के सामने आया है, वृथा अग्नि से मरना॥ १३ ॥ और इस अग्नि से बचने का कोई उपाय नहीं देखता हूं, अब इस के अनन्तर जो कर्तव्य है, सो बतलाइये ॥ १४ ॥ संजय से यह

सुन राजा फिर कहने लगे, यह मृत्यु हमें अनिष्ट नहीं है, जब कि हम स्वयं घर से निकल आए हैं ॥ १५ ॥ जल अग्नि वायु वा फाड़ा जाना, ये तपस्वियों के लिए उत्तम ही समझे गए हैं (अर्थात् उन के लिए ये अपमृत्यु नहीं माने जाते) सो हे संजय तुम देर न लगाओ, निकलजाओ ॥ १६ ॥ संजय को यह कह कर राजा मन को एकाग्र कर गान्धारी और कुन्ती समेत पूर्वाभिमुख हो कर बैठ गया ॥ १७ ॥ इन्द्रिय समूह को रोक कर वह काठ के समान हो गया ॥ १८ ॥ महाभागा गान्धारी और तेरी माता कुन्ती और तेरा पिता वह राजा इस प्रकार वनाग्नि से संयुक्त हुए ॥ १९ ॥ केवल संजय उस वनाग्नि से छूटा हुआ मैंने तपस्वियों से घिरा हुआ गंगा तट पर देखा था ॥ २० ॥ संजय उन तपस्वियों को सारा वृत्तान्त सुना कर और उन से आज्ञा ले कर हिमालय पर चला गया ॥ २१ ॥ धृतराष्ट्र की इस मृत्यु को सुन कर पाण्डवों को बड़ा शोक हुआ ॥ २२ ॥ राजा तो दुःखित हुआ अहो धिक्कार है, कह कर भुजाएं ऊंचे उठा कर माता को स्मरण कर रोने लगा ॥ २३ ॥ भीमसेन आदि सारे भाई भी रोने लगे, और अन्तःपुर में रोने का भारी शब्द हुआ ॥ २४ ॥

अ० ८ (व० ३८-३९) पाण्डवों का शोक

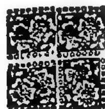
मूल—यु० उ० दुर्विज्ञेया गतिर्ब्रह्मन् पुरुषाणां मतिर्मम । यत्र वैचित्रवीर्योऽसौ दग्ध एवं वनाग्निना ॥ १ ॥ यस्य पुत्रशतं श्रीमदभवद् बाहुशालिनः । नागायुतबलो राजा स दग्धो हि दवाग्निना ॥ २ ॥ न च शोचामि गान्धारीं हतपुत्रां यशस्विनीं । पतिलोकमनुप्राप्तां तथा भर्तृव्रते स्थितां ॥ ३ ॥ पृथामेव च शो-

त्यामि या पुत्रैश्वर्यमृद्धिमत्। उत्सृज्य सुमहद्दीप्तं वनवासमरोचयत् ॥ ४ ॥ धिग्राज्यमिदमस्माकं धिग्बलं धिक् पराक्रमं। क्षत्रधर्मं च धिग्यस्मान्मृता जीवामहे वयं ॥ ५ ॥ युधिष्ठिरस्य जननी भीमस्य विजयस्य च। अनाथवत् कथं दग्धा इति मुह्यामि चिन्तयन् ॥ ६ ॥ ततः स पृथिवीपालः पाण्डवानां धुरन्धरः। निर्ययौ सहसोदर्यैः सदारश्च नरर्षभः ॥ ७ ॥ पौरजानपदाश्चैव राजभक्तिपुरस्कृताः। गंगां प्रजग्मुरभितो वाससैकेन संवृताः ॥ ८॥ ततोऽवगाह्य सलिलं सर्वे ते कुरुपुंगवाः। युयुत्सुमग्रतः कृत्वा ददुस्तोयं महात्मने ॥ ९ ॥ गान्धार्याश्च पृथायाश्च विधिवन्नामगोत्रतः। शौचं निर्वर्तयन्तस्ते तत्रोषुर्नगराद् बहिः ॥ १० ॥ ततः स पृथिवीपालो दत्त्वा श्राद्धान्यनेकशः। प्रविवेश पुनर्धीमान् नगरं वारणाह्वयं ॥ ११ ॥ सयाश्वास्य तु राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरं। नारदोऽप्यगमत् प्रीतः परमर्षिर्यथेप्सितं ॥ १२ ॥ एवं वर्षाण्यतीतानि धृतराष्ट्रस्य धीमतः। वनवासे तथा त्रीणि नगरे दशपञ्च च ॥ १३ ॥ युधिष्ठिरस्तु नृपतिर्नातिप्रीतमनास्तदा। धारयामास तद्राज्यं निहतज्ञातिबान्धवः ॥ १४ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले—हे ब्रह्मन्! पुरुषों की गति दुर्ज्ञेय है, यह मेरा निश्चय है, जब कि राजा धृतराष्ट्र वन की अग्नि से दग्ध हुआ ॥ १ ॥ जिस भुजा वाले का सौ तो अपना पुत्र ही था, वह सहस्रों हाथियों के बल वाला राजा वन की अग्नि से दग्ध हुआ ॥ २ ॥ हतपुत्रा यशस्विनी गान्धारी का तो शोक नहीं, वह पतिव्रत में स्थित हुई पतिलोक को प्राप्त हुई है ॥ ३ ॥ कुन्ती का ही मुझे शोक हो रहा है, जो बढ़े हुए पुत्रों के ऐश्वर्य को छोड़ कर प्रचण्ड वनवास को पसन्द करती भई ॥४॥ हमारे

इस राज्य को धिक् है, धिक् बल को, धिक् पराक्रम को, धिक् क्षत्रधर्म को, जिस कारण हम तो मरे हुए जी रहे हैं ॥ ५ ॥ युधिष्ठिर भीम और अर्जुन की जननी कैसे अनाथ की भांति दग्ध हुई, यह सोचता हुआ हैरान होता हूं ॥ ६ ॥ तब पाण्डवाग्रणी वह राजा भाइयों और स्त्रियों समेत बाहर निकला ॥७॥ पुर और देश के लोग भी राजभक्ति से भरे हुए एक वस्त्र पहने हुए गंगातट पर गए ॥ ८ ॥ तब जल में स्नान कर उन सब कौरवों ने युयुत्सु को आगे कर के धृतराष्ट्र को जलाञ्जलि दी ॥ ९ ॥ तथा गान्धारी और कुन्ती को यथाविधि नाम ले कर जलाञ्जलि दी, वहां वह शौच पूरा करने के लिए नगर से बाहर रहे ॥ १० ॥ तब वह राजा अनेक प्रकार उन के नाम पर दान कर के फिर हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुआ ॥ ११ ॥ नारद भी राजा युधिष्ठिर को आश्वासन दे कर प्रसन्न हुआ यथाऽभीष्ट देश को गया ॥ १२ ॥ इस प्रकार धृतराष्ट्र को ३ वर्ष वन में और १५ नगर में बीते ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर भी ज्ञाति और बान्धवों के मरने से अति प्रसन्न मन न हुआ भी राज्य की संभाल पूरी तरह करता रहा ॥ १४ ॥

आश्रमवासपर्व समाप्त हुआ ॥



मौसलपर्व ॥ *

अ० १ (व० १-४) यादवों का परस्पर विनाश

मूल—षट्त्रिंशेऽथ ततो वर्षे वृष्णीनामनयो महान् । अन्योऽन्यं मुसलैस्ते तु निजघ्नुः कालचोदिताः ॥ १ ॥ विश्वामित्रं च कण्वं च नारदं च तपोधनं । सारणप्रमुखा वीरा ददृशुर्द्वारकां गतान् ॥ २ ॥ ते वै साम्बं पुरस्कृत्य भूषयित्वा स्त्रियं यथा । अब्रुवन्नुपसंगम्य दैवदण्डनिपीडिताः ॥ ३ ॥ इयं स्त्री पुत्रकामस्य बभ्रोरमिततेजसः । ऋषयः साधु जानीत किमियं जनयिष्यति ॥ ४ ॥ इत्युक्तास्ते तदा राजन् विप्रलम्भप्रधर्षिताः । प्रत्यब्रुवंस्तान्मुनयो यत्तच्छृणु नराधिप ॥ ५ ॥ वृष्ण्यन्धकविनाशाय मुसलं घोरमायसं । वासुदेवस्य दायादः साम्बोऽयं जनयिष्यति ॥ ६ ॥ येन यूयं सुदुर्वृत्ता नृशंसा जातमन्यवः । उच्छेत्तारः कुलं कृत्स्नमृते रामजनार्दनौ ॥ ७ ॥ श्वोभूतेऽथ ततः साम्बो मुसलं तदसूत वै । विषण्णरूपस्तद्राजा सूक्ष्मं चूर्णं मकारयत ॥ ८ ॥ तच्चूर्णं सागरेचापि प्राक्षिपन् पुरुषा नृप । उत्पेदिरे महावाता दारुणाश्च दिनेदिने ॥ ९ ॥ एवं पश्यन् हृषीकेशः संप्राप्तं कालपर्ययं । त्रयोदश्याममावस्यां तान् दृष्ट्वा प्राब्रवीदिदं ॥ १० ॥ चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः । प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयाय नः ॥ ११ ॥ ततो जिगमिषन्तस्ते वृष्ण्यन्धक महारथाः । सान्तः पुरास्तदा तीर्थयात्रामैच्छन्नरर्षभाः ॥ १२ ॥ ततो

---

* मौसल, महाप्रस्थान, और स्वर्गारोहण, इन तीन पर्वों की घटनाएं आश्चर्यमय हैं, किन्तु जैसी है, वैसी रखदी हैं, ताकि पाठकों को लिखित कथाओं का यथार्थ ज्ञान होजाय, इन में अलंकारों की या सत्यासत्य की विवेचना स्वयं अपनी बुद्धि से करें ॥

भक्ष्यं च भोज्यं च पेयं चान्धकवृष्णयः । बहुनानाविधं चक्रुर्मद्यं मांसमनेकशः ॥ १३ ॥ निविष्टांस्तान् निशम्याथ समुद्रान्ते स योगवित् । जगामामन्त्र्य तान् वीरानुद्धवोऽर्थविशारदः ॥ १४ ॥

अर्थ—(युधिष्ठिर को राज्य पाए) छत्तीसवें वर्ष यादव-वंशियों में बड़ी अनीति उपस्थित हुई, वे काल से मेरे हुए आपस में ही मूसलों से मार मरे ॥ १ ॥ (और यह ऐसा हुआ कि) एक समय विश्वामित्र, कण्व और नारद द्वारका में आए, तब सारण आदि वीरगण दैवदण्ड से प्रेरित हो कर साम्ब को स्त्री-वत् सुसज्जित कर के उन के निकट ले जाकर बोले ॥ २—३ ॥ हे ऋषियो ! पुत्र कामना वाले तेजस्वी बभ्रु की यह भार्या क्या जनेगी, ठीक २ जानिये ॥ ४ ॥ यह सुन इस उपहास से क्रुद्ध हुए मुनियों ने जो उत्तर दिया, हे राजन् उसे सुनिये ॥ ५ ॥ उन्हों ने कहा, यह कृष्ण का पुत्र साम्ब वृष्णि और अन्धक वंशियों के नाश के निमित्त लोहे का एक घोर मूसल जनेगा ॥ ६ ॥ जिस से तुम जो अभिमान से दुर्वृत्त क्रूर और क्रोधी हो रहे हो, आपस में ही इस सारे कुल को नाश करोगे, सिवाय राम और कृष्ण के ॥ ७ ॥ दूसरे दिन साम्ब ने मूसल को प्रसव किया, यह सुन दुःखित हुए राजा उग्रसेन ने उस का सूक्ष्म चूर्ण करवाया ॥ ८ ॥ और यदुवंशियों ने वह सारा चूर्ण समुद्र में फैंक दिया अब दिन २ दारुण आंधियां चलने लगीं ॥ ९ ॥ इस प्रकार कृष्ण जी ने समय का फेर देखा, और तेरहवें दिन लगी अमावस्या (अर्थात तेरह दिन के कृष्णपक्ष) को देख कर या-दवों से यह बोले ॥ १० ॥ यह देखो जैसे भारत युद्ध के समय हुआ था, वैसे अब फिर राहु ने हमारे क्षय के लिए तेरहवीं को

ही चौदहवीं और पन्द्रहवीं रात बना दिया है ॥ ११ ॥ तब वृष्णि और अन्धक महारथी अन्तःपुरों समेत तीर्थयात्रा को चले ॥ १२ ॥ अन्धक वृष्णियों ने नाना प्रकार का भक्ष्य भोज्य तथा मद्यमांस तय्यार करवाया ॥ १३ ॥ जब समुद्र के किनारे पर उन्होंने डेरे जा जमाये, उस समय नीतिनिपुण योगी उद्धव उन से अनुज्ञा ले कर चला गया ॥ १४ ॥

मूल—ततस्तूर्यशताकीर्णे नटनर्तकसंकुले । अवर्तत महापानं प्रभासे तिग्मतेजसां ॥ १५ ॥ कृष्णस्य सन्निधौ रामः सहितः कृतवर्मणा । अपिबद्युयुधानश्च गदो बभ्रुस्तथैव च ॥ १६ ॥ ततः परिषदो मध्ये युयुधानो मदोत्कटः । अब्रवीत् कृतवर्माणमवहस्यावमत्य च ॥ १७ ॥ कः क्षत्रियो हन्यमानः सुप्तान् हन्यान्मृतानिव । तन्नमृष्यन्ति हार्दिक्य यादवा यत्त्वया कृतं ॥ १८ ॥ इत्युक्ते युयुधानेन पूजयामास तद्वचः । प्रद्युम्नो रथिनां श्रेष्ठो हार्दिक्यमवमत्य च ॥ १९ ॥ ततः परमसंक्रुद्धः कृतवर्मा तमब्रवीत् । निर्दिशन्निव सावज्ञं तदा सव्येन पाणिना ॥ २० ॥ भूरिश्रवाश्छिन्नबाहुर्युद्धे प्रायगतस्त्वया । वधेन सुनृशंसेन कथं वीरेण पातितः ॥ २१ ॥ इति तस्य वचः श्रुत्वा केशवः परवीरहा । तिर्यक् सरोषया दृष्ट्या वीक्षांचक्रे स मन्युमान् ॥ २२ ॥ मणिः स्यमन्तकश्चैव यः स सत्राजितोऽभवत् । तां कथां श्रावयामास सात्यकिर्मधुसूदनं ॥ २३ ॥ तच्छ्रुत्वा केशवस्यांकमगमद् रुदती तदा । सत्यभामा प्रकुपिता कोपयन्ती जनार्दन ॥ २४ ॥ तत उत्थाय सक्रोधः सात्यकिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ २५ ॥ पञ्चानां द्रौपदेयानां धृष्टद्युम्न शिखण्डिनोः । एष गच्छामि पदवीं सत्येन च

तथा शपे ॥ २६ ॥ सौप्तिके ये च निहताः सुप्ता येन दुरात्मना । द्रोणपुत्र सहायेन पापेन कृतवर्मणा ॥ २७ ॥ समाप्तमायुरस्याद्य यशश्चैव सुमध्यमे ॥ २८ ॥ इत्येवमुक्त्वा खड्गेन केशवस्य समीपतः । अभिद्रुत्य शिरः क्रुद्धश्चिच्छेद कृतवर्मणः ॥ २९ ॥

अर्थ—उद्धव के चले जाने पर प्रभास तीर्थ में उग्रवीर्य यादवों का बाजों से और नटनर्तकों के गीतों के साथ महापान आरम्भ हुआ ॥ १५ ॥ राम, कृतवर्मा, सात्यकि गद और बभ्रु कृष्ण के सामने ही मद्य पीने लगे ॥ १६ ॥ अनन्तर सात्यकि मतवाला हो कर सभा के मध्य में कृतवर्मा का उपहास और अपमान कर के बोला ॥ १७ ॥ हे हार्दिक्य कौन क्षत्रिय मार खाया हुआ (सामने न लड़ कर) मृत समान सोए हुए शत्रुओं का वध किया करता है, सो तुमने जो कार्य किया है, यादव उसे बुरा मानते हैं ॥ १८ ॥ सात्यकि ने जब ऐसा कहा, तो रथिवर प्रद्युम्न ने कृतवर्मा का अपमान कर के सात्यकि के वचन की प्रशंसा की ॥ १९ ॥ यह सुन कृतवर्मा अत्यन्त क्रुद्ध हो बायां हाथ दिखा कर अनादर करता हुआ बोला ॥ २० ॥ भुज के कटने पर जब भूरिश्रवा रण में योगयुक्त हो कर बैठा था, तो तुमने अति क्रूरता से कैसे उसे मार गिराया ॥ २१ ॥ उस के इस वचन को सुन कर शत्रुवीरों के नाशक कृष्ण जी क्रुद्ध हुए, और क्रोधपूर्वक तिरछे नेत्र से उसे देखने लगे ॥२२॥ उस समय सात्यकि ने सत्राजित की स्यमन्तक मणि वाली वह पुरानी कथा कृष्ण को सुनाई ॥ २३ ॥ यह सुन कुपित हुई सत्यभामा कृष्ण के अंक में जा कर रोती हुई उन के क्रोध को प्रचण्ड करने लगी ॥ २४ ॥ अनन्तर सात्यकि क्रोधपूर्वक उठ के

बोला ॥ २५ ॥ हे सुमध्यमे यह मैं पांचों द्रौपदी के पुत्रों, धृष्टद्युम्न और शिखण्डी की पदवी का अनुगामी होता हूं, यह सत्य की शपथ करता हूं ॥ २६ ॥ जिस पापी कृतवर्मा ने द्रोण की सहायता से सौप्तिक में सोए हुए मारे थे ॥ २७ ॥ आज उस की भी आयु और यश समाप्त होचुके ॥ २८ ॥ यह कह कर क्रुद्ध हुए सात्यकि ने कृष्ण के सामने दौड़ कर कृतवर्मा का सिर काट दिया ॥ २९ ॥

मूल—तथाऽन्यानपि निघ्नन्तं युयुधानं समन्ततः। अभ्यधावद्धृषीकेशो विनिवारयितुं तदा ॥ ३० ॥ एकीभूतास्ततः सर्वे कालपर्याय चोदिताः। भोजान्धका महाराज शैनेयं पर्यवारयन् ॥ ३१ ॥ तान् दृष्ट्वा पततस्तूर्णमभिक्रुद्धाञ्जनार्दनः। न चुक्रोध महातेजा जानन् कालस्य पर्ययं ॥ ३२ ॥ ते तु पानमदाविष्टाश्चोदिता कालधर्मणा। युयुधानमथाभ्यघ्नन्नुच्छिष्टैर्भाजनैस्तदा ॥ ३३ ॥ हन्यमाने तु शैनेये क्रुद्धो रुक्मिणिनन्दनः। तदनन्तरमागच्छन्मोक्षयिष्यञ् शिनेः सुतं॥ ३४ ॥ स भोजैः सह संयुक्तः सात्यकिश्चान्धकैः सह ॥ ३५ ॥ व्यायच्छमानौ तौ बाहुद्रविणशालिनौ। बहुत्वान्निहतौ तत्र उभौ कृष्णस्य पश्यतः ॥ ३६ ॥ हतं दृष्ट्वा च शैनेयं पुत्रं च यदुनन्दनः। एरकाणां ततो मुष्टिं कोपाज्जग्राह केशवः ॥ ३७ ॥ तदभून्मुसलं घोरं वज्रकल्पमयोमयं। जघान कृष्णस्तांस्तेन ये ये प्रमुखतोऽभवन् ॥ ३८ ॥ ततोऽन्धकाश्च भोजाश्च शैनेया वृष्णयस्तथा। जघ्नुरन्योऽन्यमाक्रन्दे मुसलैः कालचोदिताः ॥ ३९ ॥ यस्तेषामेरकां कश्चिज्जग्राह कुपितो नृप। तृणं च मुसलीभूतमपि तत्र व्यदृश्यत ॥ ४० ॥ अवधीत पितरं पुत्रः पिता पुत्रं च भारत। मत्ताः परिपतन्तिस्म योधयन्तः

परस्परं ॥ ४१ ॥ साम्बं च निहतं दृष्ट्वा चारुदेष्णं च माधवः । प्रद्युम्नं चानिरुद्धं ततश्चुक्रोध भारत ॥ ४२ ॥ गदं वीक्ष्य शयानं च भृशं कोपसमन्वितः । स निःशेषं तदा चक्रे शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ४३ ॥ ततः समासाद्य महानुभावं कृष्णस्तदा दारुकमन्वभाषत् । गत्वा कुरून् सर्वमिदं महान्तं पार्थाय शंसस्व वधं यदूनां ॥ ४४ ॥ ततोऽर्जुनः क्षिप्रमिहोपयातु श्रुत्वा मृतान् यादवान् ब्रह्मशापात् । इत्येवमुक्तः स ययौ रथेन कुरूंस्तथा दारुको नष्टचेताः ॥ ४५ ॥ ततो गते दारुके केशवोऽथ दृष्ट्वान्तिके बभ्रुमुवाच वाक्यं । स्त्रियो भवान् रक्षितुं यातु शीघ्रं नैता हिंस्युर्दस्यवो वित्तलोभात् ॥ ४६ ॥ तं वैश्रान्तं सन्निधौ केशवस्य त्वरन्तमेकं सहसैव बभ्रुं । ब्रह्मानुशप्तमवधीन्महद्वै कूटे युक्तं मुसलं लुब्धकस्य ॥ ४७ ॥ ततो दृष्ट्वा निहतं बभ्रुमाह कृष्णोऽग्रजं भ्रातरमुग्रतेजाः । इहैव त्वं मां प्रतीक्षस्व राम यावत् स्त्रियो ज्ञातिवशः करोमि॥४८॥ ततः पुरीं द्वारवतीं प्रविश्य जनार्दनः पितरं प्राह वाक्यं । स्त्रियो भवान् रक्षतु नः समग्रा धनञ्जयस्यागमनं प्रतीक्षन् ॥ ४९ ॥ रामो वनान्ते प्रतिपालयन्मामास्तेऽद्याहं तेन समागमिष्ये।दृष्टं मयेदं निधनं यदूनां राज्ञां च पूर्वं कुरुपुंगवानां ॥ ५० ॥ नाहं विना यदुभिर्यादवानां पुरीमिमामशकं द्रष्टुमद्य । तपश्चरिष्यामि निबोध तन्मे रामेण सार्धं वनमभ्युपेत्य॥ ५१ ॥ इतीदमुक्त्वा शिरसा च पादौ संस्पृश्य कृष्णस्त्वरितो जगाम । ततो महान्निनदः प्रादुरासीत् सस्त्रीकुमारस्य पुरस्य तस्य ॥ ५२ ॥ ततो गत्वा केशवस्तं ददर्श रामं वने स्थितमेकं विविक्ते । अथापश्यद् योगयुक्तस्य तस्य नागं मुखान्निश्चरन्तं महान्तं ॥ ५३ ॥ ततो गते भ्रातरि

वासुदेवो जानन् सर्वां गतयो दिव्यदृष्टिःवने शून्ये विचरंश्चिन्तयानो भूमौ चाथ संविवेशाग्र्यतेजाः ॥ ५४ ॥ संचिन्तयन्नन्धकवृष्णिनाशं कुरुक्षयं चैव महानुभावः । मेने तदा संक्रमणस्य कालं ततश्चकारेन्द्रियसन्निरोधं ॥ ५५ ॥ स सन्निरुध्येन्द्रियवाङ्मनास्तु शिश्ये महायोग मुपेत्य कृष्णः । जरोऽथ तं देश मुपाजगाम लुब्धस्तदानीं मृगलिप्सुरुग्रः ॥ ५६ ॥ स केशवं योगयुक्तं शयानं मृगाशंकी लुब्धकः सायकेन । जरोऽविध्यत् पादतलेत्वरावांस्तं चाभितस्तज्जघृक्षुर्जगाम ॥ ५७ ॥ ततो राजन् भगवानुग्रतेजा नारायणः प्रभवश्चाव्ययश्च । योगाचार्यो रोदसी व्याप्य लक्ष्म्या स्थानं प्राप स्वं महात्माऽप्रमेयं ॥ ५८ ॥

अर्थ—वैसे औरों को भी मारते हुए सात्यकि को रोकने के लिए श्रीकृष्ण दौड़े ॥ ३० ॥ उस समय काल के फेर से मेरे हुए भोज और अन्धकों ने इकट्ठे मिल कर सात्यकि को घेर लिया ॥ ३१ ॥ चारों ओर से क्रुद्ध हो आ पड़ते हुए उन को देख कर महातेजस्वी कृष्ण समय का फेर जान कर क्रुद्ध नहीं हुए॥३२॥ पान से मदमत्त काल से मेरे हुए वे वीर झूठे वर्तनों से सात्यकि को चारों ओर से मारने लगे ॥ ३३ ॥ उस समय क्रुद्ध हुआ रुक्मिनन्दन शिनिसुत को छुड़ाने के लिए दौड़ के आया॥३४॥ वह भोजगणों और सात्यकि अन्धकगणों के संग युद्ध में प्रवृत्त हुए ॥ ३५ ॥ बाहुबल शाली वे दोनों वीर बहुत युद्ध कर के भी शत्रुओं की बहुतायत के कारण कृष्ण के सामने ही मारे गए ॥ ३६ ॥ कृष्ण ने सात्यकि को और पुत्र को मरा हुआ देख कर क्रोध से एरकों की मुट्ठी ली ॥ ३७ ॥ वह वज्र तुल्य लोहे का

मुसल हो गया, उस से कृष्ण ने जो २ सामने आए, उन सब को मार गिराया ॥ ३८ ॥ उसे देख कर काल से घेरे हुए अन्धक भोज, शिनिवंशी और वृष्णिवंशी उन्हीं (एरकों के) मूसलों को ले कर रण में एक दूसरे का नाश करने लगे ॥ ३९ ॥ उन में से क्रुद्ध हो कर जो कोई एरका उठाता, वह तृण उसी समय मूसल हो कर दीखता था ॥ ४० ॥ वे ऐसे मतवाले हुए कि परस्पर युद्ध में प्रवृत्त हो कर पुत्र पिता को और पिता पुत्र को मार रहा था ॥ ४१ ॥ साम्ब, चारुदेष्ण प्रद्युम्न और अनिरुद्ध को मरे देख कर श्रीकृष्ण क्रोध में आए ॥ ४२ ॥ और गद को पृथिवी पर लेटा देख अत्यन्त कोप से युक्त हुए श्रीकृष्ण ने शंखचक्र गदा धार कर किसी को भी जीता न छोड़ा ॥४३॥ तब कृष्ण जी राम के पास पहुंचे, और वहां दारुक को आज्ञा दी, कि शीघ्रता से कौरवों के पास जा कर युधिष्ठिर को यादवों के इस परस्पर के वध का समाचार दो ॥ ४४ ॥ और ब्रह्मशाप से मरे यादवों को सुन कर अर्जुन यहां शीघ्र आवे यह सुन कर दारुक व्याकुल चित्त से रथ पर चढ़ कर कौरवों की ओर गया ॥ ४५ ॥ दारुक के चले जाने पर श्रीकृष्ण पास खड़े बभ्रु से बोले, आप शीघ्र द्वारका में जा कर स्त्रियों की रक्षा कीजिये, न हो, कि दस्यु उन्हें धन के लोभ से मार डालें ॥ ४६ ॥ वह थका हुआ हो कर भी कृष्ण की आज्ञा से झट जाने को तय्यार हुआ, उसी समय कृष्ण के सामने ही ब्रह्मशाप के कारण किसी लुब्धक के कूटयुक्त मूसल ने उस के सिर पर गिर कर उस के प्राण हर लिये ॥ ४७ ॥ बभ्रु को मरा देख कर उग्रवीर्य श्रीकृ-

ष्ण बड़े भाई से बोले, हे राम ! तुम यहीं मेरी प्रतीक्षा करो, जब तक कि स्त्रियों को ज्ञातियों के अधीन कर आता हूं ॥ ४८ ॥ द्वारका में प्रवेश कर के कृष्ण पिता से यह वचन बोले, आप अर्जुन के आने की प्रतीक्षा करते हुए सब स्त्रियों की रक्षा करें ॥ ४९ ॥ राम वन में मेरी प्रतीक्षा कर रहे हैं, मैं उन के साथ जा मिलूंगा, मैंने यादवों का मृत्यु देखा है, और इस से पहले कौरवों का भी ॥ ५० ॥ यादवों के बिना मैं अब यादवों की इस पुरी को देख नहीं सकता, अब मैं राम के साथ वन में जा कर तप करूंगा ॥ ५१ ॥ यह कह कर सिर से उन के पाओं छू कर श्रीकृष्णजी वहां से चले, तब स्त्री बच्चों समेत सारी पुरी में रोने की महान् ध्वनि हुई ॥ ५२ ॥ अनन्तर कृष्ण ने वन में जा कर देखा, कि राम निर्जन में एकले योगयुक्त होके बैठे हैं, और उन के मुख से एक बड़ा नाग निकल रहा है ॥ ५३ ॥ भाई के चले जाने पर दिव्यदृष्टि कृष्ण काल की यह सारी गातियें जान कर शून्य वन में विचरने लगे और इसी चिन्ता में भूमि पर बैठ गए ॥ ५४ ॥ अन्धक और वृष्णियों के नाश को और कुरुवंशियों के क्षय को चिन्तन करते हुए उस महानुभाव ने निश्चय किया, कि अब जाने का समय है, तब उस ने इन्द्रियों को रोका ॥ ५५ ॥ मनवाणी और इन्द्रियों को रोक कर कृष्ण महायोगयुक्त हो कर लेट गए, उसी समय वहां मृगों को ढूंढता हुआ जर नामी व्याधा आगया ॥ ५६ ॥ योग से युक्त हो कर लेटे हुए कृष्ण को मृग जान कर जर ने उन के पादतल पर बाण मारा, और झट पट पकड़ने के लिए वहां गया ॥ ५७ ॥ उस

समय हे राजन् उग्र तेज वाले योगाचार्य श्रीकृष्ण अपने तेज से द्यौ और पृथिवी को पूर्ण करते हुए ऊपर की ओर गए॥५८॥

अ० २ (व० ५-६) अर्जुन का द्वारका गमन

मूल—दारुकोऽथ कुरून् गत्वा दृष्ट्वा पार्थान् महारथान्। आचष्ट मौसले वृष्णीनन्योऽन्येनोपसंहृतान् ॥ १ ॥ श्रुत्वा विनष्टान् वार्ष्णेयान् सभोजान्धककुक्कुरान् । पाण्डवाः शोकसंतप्ता वित्रस्तमनसोऽभवन् ॥ २ ॥ ततोऽर्जुनस्तानामन्त्र्य केशवस्य प्रियः सखा । प्रययौ मातुलं द्रष्टुं नेदमस्तीति चाब्रवीत॥३॥ स वृष्णिनिलयं गत्वा दारुकेन सह प्रभो । ददर्श द्वारकां वीरो मृतनाथामिवस्त्रियं ॥ ४ ॥ याः स्म लोकनाथेन नाथवत्यः पुराऽभवन् । तास्त्वनाथास्तदा नाथं पार्थं दृष्ट्वा विचुक्रुशुः ॥५॥ तां दृष्ट्वा द्वारकां पार्थस्ताश्च कृष्णस्य योषितः। सस्वनं बाष्पमुत्सृज्य निपपात महीतले ॥ ६ ॥ ताश्च तं काञ्चने पीठे समुत्थाप्योपवेश्य च । अब्रुवन्त्यो महात्मानं परिवार्योपतस्थिरे ॥ ७ ॥ ततः संस्तूय गोविन्दं कथयित्वा च पाण्डवः । आश्वास्य ताः स्त्रियश्चापि मातुलं द्रष्टुमभ्यगात ॥ ८ ॥ तं शयानं महात्मानं वीरमानकदुन्दुभिं । पुत्रशोकेन संतप्तं ददर्श कुरुपुंगवः ॥ ९ ॥ तस्याश्रुपरिपूर्णाक्षो व्यूढोरस्को महाभुजः । आर्तस्यार्ततरः पार्थः पादौ जग्राह भारत ॥ १० ॥ समालिंग्यार्जुनं वृद्धः स भुजाभ्यां महाभुजः । रुरोदाथ स्मरञ्शौरिं विललाप सुविह्वलः ॥ ११॥ यैर्जिता भूमिपालाश्च दैत्याश्च शतशोऽर्जुन । तान् सर्वानिह पश्यामि जीवाम्यर्जुन दुर्मरः ॥ १२ ॥ यौ तावर्जुनशिष्यौ ते प्रियौ बहुमतौ सदा । तयोरपनयात पार्थ वृष्णयो निधनं गताः ॥ १३ ॥ ततः

पुत्रांश्च पौत्रांश्च भ्रातॄनथ सखींस्तथा । शयानान्निहतान् दृष्ट्वा कृष्णो मामब्रवीदिदं ॥ १४ ॥ संप्राप्तोऽयायमस्यान्तः कुलस्य भरतर्षभ । आगमिष्यति बीभत्सुरिमां द्वारवतीं पुरीं ॥ १५ ॥ योऽहं तमर्जुनं विद्धि योऽर्जुनः सोऽहमेव तु । यद् ब्रूयात्तत्तथा कार्यमिति बुध्यस्व भारत ॥ १६ ॥ स स्त्रीषु प्राप्तकालासु पाण्डवो बालकेषु च । प्रतिपत्स्यति बीभत्सुर्भवतश्चौर्ध्वदेहिकं ॥ १७ ॥ इमां च नगरीं सद्यः प्रतियाते धनञ्जये । प्राकाराट्टालकोपेतां समुद्रः प्लावयिष्यति ॥ १८ ॥ अहं देशे तु कस्मिंश्चित् पुण्ये नियममास्थितः । कालं काङ्क्षे सद्यमेव रामेण सह धीमता ॥ १९ ॥ सोऽहं तौ च महात्मानौ चिन्तयन् भ्रातरौ तव । घोरं ज्ञातिवधं चैव न भुञ्जे शोककर्शितः ॥ २० ॥ न भोक्ष्ये न च जीविष्ये दिष्ट्या प्राप्तोसि पाण्डव । यदुक्तं पार्थ कृष्णेन तत्सर्वमखिलं कुरु ॥२१॥

अर्थ—इधर दारुक ने कुरुदेशों में जा कर कुन्तीपुत्रों के दर्शन कर उन को परस्पर मूसलयुद्ध में यादवों का मारा जाना बतलाया ॥ १ ॥ पाण्डव वृष्णि भोज अन्ध और कुक्कुरों का विनाश सुन कर शोक संतप्त और व्याकुल चित्त हुए ॥ २ ॥ तब कृष्ण का प्रिय सखा अर्जुन यह असंभावित सी घटना हुई है, ऐसे कह कर उन से पूछ कर मामा के देखने को चले ॥३॥ उस वीर ने दारुक सहित वृष्णियों के निवासस्थान में जा कर देखा, कि द्वारका नगरी विधवा स्त्री की भांति शोभाहीन हो रही है ॥ ४ ॥ जो स्त्रियें पहले लोकनाथ श्रीकृष्ण से नाथवती थीं, वे अब अनाथ हुईं अर्जुन को देख कर रोने लगीं ॥ ५ ॥ अर्जुन उस द्वारका को और कृष्ण की उन स्त्रियों को देख कर महाशब्द से रुदन करते हुए भूमि पर गिर पड़े ॥ ६ ॥ वे स्त्रियें

उस को उठा कर सोने के पीठ पर बिठला कर बिना कुछ बोलने के चारों ओर बैठ गई ॥ ७ ॥ तब अर्जुन कृष्ण की स्तुति की कथाएं कह कर उन स्त्रियों को धीरज दे कर मामे के दर्शन को गया ॥८॥ पुत्र शोक से तपे हुए उस महात्मा आनकदुन्दुभि को अर्जुन ने लेटे हुए देखा ॥ ९ ॥ आंसुओं से भरे नेत्रों वाले विशाल छाती वाले महाभुज अर्जुन ने उस दुःखित के दुःखित तर हो कर चरण ग्रहण किये ॥ १० ॥ भुजाओं से अर्जुन को आलिंगन कर के वह वृद्ध कृष्ण को स्मरण कर के व्याकुल हो कर विलाप करने लगे ॥ ११ ॥ हे अर्जुन जिन्हों ने सैंकड़ों क्षत्रिय और राक्षस जीते थे, आज उन सब को यहां नहीं देखता हूं, और मैं जीता हूं, मेरी मृत्यु नहीं है ॥ १२ ॥ हे अर्जुन जो तेरे दोनों प्यारे शिष्य (सात्यकि और प्रद्युम्न) थे, उन की अनीति से वृष्णि नष्ट हुए ॥ १३ ॥ तब पुत्र पोते भाई और मित्रों को मरे पड़े देख कर हे भरतवर कृष्ण ने यह मुझे कहा ॥ १४ ॥ आज इस कुल का अन्त हुआ है, अर्जुन द्वारका में आएगा ॥ १५ ॥ जो मैं हूं, वह अर्जुन है, जो अर्जुन है, सो मैं हूं, सो जो वह कहे, वह उसी प्रकार करना ॥ १६ ॥ वह अर्जुन ही स्त्रियों और बच्चों का समयोचित निश्चय करेगा, और आप का और्ध्वदेहिक कर्म करेगा ॥ १७ ॥ अर्जुन के यहां से जाते ही ऊंचे कोट और अटारियों समेत इस नगरी को समुद्र बहा ले जाएगा ॥ १८ ॥ मैं किसी पवित्र स्थान में नियमस्थित हो कर राम के साथ काल की प्रतीक्षा करूंगा ॥ १९ ॥ सो मैं उन तेरे दोनों भाइयों (राम कृष्ण) का और घोर ज्ञातिवध का चिन्तन करता हुआ शोक से दुर्बल हुआ हूं कुछ नहीं खाया है॥२०॥

न ही खाऊंगा, न जिऊंगा, भाग्य से हे अर्जुन तुम आगए हो, जो कृष्ण ने कहा, उस सारी बात को करो ॥ २१ ॥

अ० ३ (व० ७) यादव कुमारों और स्त्रियों को संग ले जाना

मूल—अ० उ० नाहं वृष्णिप्रवीरेण बन्धुभिश्चैव मातुल। विहीनां पृथिवीं द्रष्टुं शक्ष्यामीह कथञ्चन ॥ १ ॥ सर्वथा वृष्णि-दारांस्तु बालं वृद्धं तथैव च। नयिष्ये परिगृह्याहमिन्द्रप्रस्थं परिन्दम ॥ २ ॥ तां रात्रिमवसत्पार्थः केशवस्य निवेशने। महता शोक मोहेन सहसाऽभिपरिप्लुतः ॥ ३ ॥ श्वोभूतेऽथ ततः शौरि-र्वसुदेवः प्रतापवान्। युक्त्वात्मानं महातेजा जगाम गति मुत्तमां ॥ ४ ॥ ततः शब्दो महानासीद्वसुदेव निवेशने। दारुणः क्रोश-तीनां च रुदतीनां च योषितां ॥ ५ ॥ तं च देवकी च भद्रा च रोहिणी मदिरा तथा। अन्वारोढुं व्यवसिता भर्तारं योषितां वराः ॥ ६ ॥ ततः शौरिं नृयुक्तेन बहुमौल्येन भारत। यानेन महता पार्थो बहिर्निष्क्रामयत्तदा ॥ ७ ॥ तस्याश्वमेधिकं छत्रं दीप्यमा-नाश्च पावकाः। पुरस्तात्तस्य यानस्य याजकाश्च ततो ययुः॥८॥ यस्तु देशः प्रियस्तस्य जीवतोऽभून्महात्मनः। तत्रैनमुप संकल्प्य पितृमेधं प्रचक्रिरे ॥ ९ ॥ तं चिताग्निगतं वीरं शूरपुत्रं वरांगनाः। ततोऽन्वारुरुहुः पत्न्यश्चतस्रः पतिलोकगाः ॥ १० ॥ ततः प्रादुर भूच्छब्दः समिद्धस्य विभावसोः। सामगानां च निर्घोषो नराणां रुदतामपि ॥ ११ ॥ ततो वज्रप्रधानास्ते वृष्ण्यन्धक कुमारकाः। सर्वे चैवोदकं चक्रुः स्त्रियश्चैव महात्मनः ॥ १२ ॥

अर्थ—अर्जुन बोले–हे मामा मैं वृष्णिप्रवीर श्रीकृष्ण और दूसरे बन्धुओं से हीन हुई इस पृथिवी को किसी तरह नहीं देख

सकूंगा ॥ १ ॥ इस समय में यादवों की स्त्रियों बच्चों और बूढ़ों को ले कर इन्द्रप्रस्थ जाऊंगा ॥ २ ॥ अनन्तर शोक मोह से युक्त हुए अर्जुन ने उस रात कृष्ण के घर में वास किया ॥ ३ ॥ दूसरे दिन प्रभात होते ही प्रतापी वासुदेव योगयुक्त हो कर उत्तम गति को प्राप्त हुए ॥ ४ ॥ तब वसुदेव के घर में रोती पुकारती स्त्रियों की बड़ी दारुण रोदनध्वनि हुई ॥ ५ ॥ स्त्री-रत्न देवकी, भद्रा, रोहिणी और मदिरा उस के साथ चिता पर आरूढ होने को तय्यार हुई ॥ ६ ॥ अनन्तर अर्जुन ने बहुमूल्य विमान पर आरूढ कर के वसुदेव को बाहर निकाला ॥ ७ ॥ अश्वमेध सम्बन्धी छत्र, प्रज्वलित अग्नियें और याजक उस यान के आगे चलने लगे ॥८॥ जो स्थान जीतेजी उस महात्मा को प्रिय था, उस ही स्थान में उन के शव को स्थापन कर के पितृ-मेध आरम्भ किया ॥ ९ ॥ उन के साथ पतिलोक को जाने वाली उन की चारों रानियें उस वीर के साथ चिता पर आरूढ हुईं ॥ १० ॥ तब अग्नि के प्रज्वलित होने पर सामगों की सामध्वनि और रोने वालों का शब्द प्रकट हुआ ॥ ११ ॥ इस के अनन्तर वज्र आदि यादव कुमारों और स्त्रियों ने मिल के उस महात्मा को जलाञ्जलि दी ॥ १२॥

मूल—अलुप्तधर्मस्तं धर्मं कारयित्वा स फाल्गुनः । जगाम वृष्णयो यत्र विनष्टा भरतर्षभ ॥ १३ ॥ स तान् दृष्ट्वा निपतितान् कदने भृशदुःखितः । बभूवातीव कौरव्यः प्राप्तकालं चकार ह ॥ १४ ॥ ततः शरीरं रामस्य वासुदेवस्य चोभयोः।अन्विष्य दाहयामास पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १५ ॥ स तेषां विधिवत् कृत्वा प्रेतकार्याणि पाण्डवः । सप्तमे दिवसे प्रायाद् रथमारुह्य सत्वरः

॥ १६ ॥ अश्वयुक्तै रथैश्चापि गोखरोष्ट्र युतैरपि । स्त्रियस्ता वृ-
ष्णिवीराणां रुदत्यः शोककर्षिताः ॥ १७ ॥ अनुजग्मुर्महात्मानं
पाण्डुपुत्रं धनञ्जयं । भृत्यास्त्वन्धक-वृष्णीनां सादिनो रथिनश्चये
॥ १८ ॥ वीरहीनां वृद्धबालां पौरजानपदास्तथा । ययुस्ते परि-
वार्याथ कलत्रं पार्थशासनात् ॥ १९ ॥ निर्याते तु जने तस्मिन्
सागरो मकरालयः । द्वारकां रत्न संपूर्णांजलेनाप्लावयत्तदा ॥२०॥
तदद्भुत मभिप्रेक्ष्य द्वारकावासिनो जनाः । तूर्णात्तूर्णतरं जग्मुरहो
दैव मितिब्रुवन् ॥ २१ ॥ काननेषु च रम्येषु पर्वतेषु नदीषु च ।
निवसन्नानयामास वृष्णिदारान् धनञ्जयः ॥ २२ ॥

अर्थ—धर्मात्मा अर्जुन धर्मानुसार उस कार्य को पूरा कर के वहां गया, जहां यादव नष्ट हुए थे ॥ १३ ॥ वहां रण में उन को मरे देख कर अर्जुन अत्यन्त दुःखित हुआ, और समयोचित उन का अन्त्येष्टि कर्म किया ॥ १४ ॥ अनन्तर राम के और कृष्ण के शरीर को ढूंढ कर उन के बन्धुओं से दाह करवाया ॥१५॥ यथाविधि उन के प्रेतकार्य कर के सातवें दिन अर्जुन रथ पर चढ़ कर गया ॥ १६ ॥ घोड़े खच्चर बैल और ऊंटों से युक्त रथों पर यादवों की स्त्रियें रोती हुई चलीं ॥ १७ ॥ अन्धक वृष्णियों के भृत्य हाथी घोड़ों पर सवार हो कर महात्मा अर्जुन के पीछे चले ॥ १८ ॥ वीरों से हीन बालक और वृद्ध पुरवासी अर्जुन की आज्ञा से स्त्रियों की चारों ओर से रखवाली करते हुए चले ॥ १९॥ उस जनसमुदाय के निकलजाने पर समुद्र ने सम्पूर्ण रत्न पूर्ण द्वारका को जल में डुबा दिया ॥ २० ॥ द्वारकावासी जन इस अद्भुत घटना को देख कर ' अहो दैव के खेल ' कहते हुए जल्दी २ चलने लगे ॥ २१ ॥ अर्जुन रमणीय वनों पर्वतों और

नदियों पर वास करते हुए यादवों की स्त्रियों को संग२ लाए ॥२२॥

मूल—स पञ्चनदमासाद्य धीमानतिसमृद्धिमत् । देशे गोपशुधान्याढ्ये निवासमकरोत् प्रभुः ॥२३॥ ततो लोभः समभवद् दस्यूनां निहतेश्वराः । दृष्ट्वा स्त्रियो नीयमानाः पार्थेनैकेन भारत ॥ २४ ॥ ततो यष्टिप्रहरणा दस्यवस्ते सहस्रशः । अभ्यधावन्त वृष्णीनां तं जनं लोप्त्रहारिणः ॥ २५ ॥ ततोऽर्जुनो धनुर्दिव्यं गांडीवमजरं महत् । आरोपयितुमारेभे यत्नादिव कथञ्चन ॥२६॥ चकार सज्यं कृच्छ्रेण संभ्रमे तुमुले सति । चिन्तयामास शस्त्राणि न च सस्मार तान्यपि ॥ २७ ॥ वैकृतं तन्महद् दृष्ट्वा भुजवीर्ये तथा युधि । दिव्यानां च महास्त्राणां विनाशाद् व्रीडितोऽभवत् ॥ २८ ॥ वृष्णियोधाश्च ते सर्वे गजाश्वरथयोधिनः । न शेकुरावर्तयितुं ह्रियमाणं च तं जनं ॥ २९ ॥ मिषतां सर्वयोधानां ततस्ताः प्रमदोत्तमाः । समन्ततोऽवकृष्यन्त कामाच्चान्याः प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥ ततो गांडीवनिर्मुक्तैः शरैः पार्थो धनञ्जयः । जघान दस्यून् सोद्वेगो वृष्णिभृत्यैः सहस्रशः ॥ ३१ ॥ क्षणेन तस्य ते राजन् क्षयं जग्मुरजिह्मगाः । अक्षया हि पुरा भूत्वा क्षीणाः क्षतजभोजनाः ॥ ३२ ॥ स शरक्षयमासाद्य दुःखशोकसमाहतः । धनुष्कोट्या तदा दस्यूनवधीत् पाकशासनिः ॥ ३३ ॥ अस्त्राणां च प्रणाशेन शराणां संक्षयेण च । बभूव विमनाः पार्थो दैवमित्यनुचिन्तयन् ॥ ३४ ॥ न्यवर्तत ततो राजन्नेदमस्तीति चाब्रवीत् ॥ ३५ ॥ ततः स शेषमादाय कलत्रस्य महामतिः । हतभूयिष्ठरत्नस्य कुरुक्षेत्र मवातरत् ॥ ३६ ॥ युधिष्ठिरस्यानुमते वंशकर्तॄन् कुमारकान् । न्यवेशयत कौरव्यस्तत्र तत्र धनञ्जयः ॥ ३७ ॥ हार्दिक्य तनयं पार्थो नगरं मार्तिकावतं ॥ ३८ ॥ यौयुधानिं सर-

स्वत्यां पुत्रं सात्यकिनः प्रियं । न्यवेशयत धर्मात्मा वृद्धबाल पुर-
स्कृतं ॥ ३९ ॥ इन्द्रप्रस्थे ददौ राज्यं वज्राय परवीरहा । वज्रेणा-
क्रूर दारास्तु वार्यमाणाः प्रवव्रजुः ॥ ४० ॥ रुक्मिणीत्वथ गा-
न्धारी शैव्याहैमवतीत्यपि । देवी जाम्बवती चैव विविशुर्जात वे-
दसं ॥ ४१ ॥ सत्यभामा तथैवान्या देव्यः कृष्णस्य सम्मताः ॥ वनं
प्रविविशू राजंस्तापस्ये धृतनिश्चयाः ॥ ४२ ॥ द्वारका वासिनो
ये तु पुरुषा पार्थ मभ्ययुः । यथार्हं संविभज्यैनान् वज्रे पर्यद-
दज्जयः ॥ ४३ ॥

अर्थ—जब वे बड़े समृद्धि वाले पञ्चनद पर पहुंचे, तो गौ और अन्य पशुओं तथा खेतियों से समृद्ध स्थान में वास किया ॥ २३ ॥ वहां अकेले अर्जुन को हतनाथा स्त्रियों को ले जाते देख कर डाकुओं को लोभ उत्पन्न हुआ ॥ २४ ॥ वे पर धनहारी अनगिनत डाकू लाठियां मारते हुए यादवों की स्त्रियों की ओर दौड़े ॥ २५ ॥ तब अर्जुन अपने बड़े अजर गांडीव धनुष को यत्न से चढ़ाने लगे ॥ २६ ॥ उस भारी घबराहट में कष्ट से धनुष चढ़ा कर अस्त्रों को सोचने लगे, किन्तु वे स्मृतिपथ में न आए ॥ २७ ॥ यह बड़ी विपरीतता देख कर दिव्य अस्त्रों के नाश से युद्ध में भुजवीर्य की विपरीतता देख कर अर्जुन बड़े लज्जित हुए ॥ २८ ॥ इधर हाथी घोड़े और रथों के सवार यादव योद्धा हरी जाती उन स्त्रियों को लौटाने में असमर्थ हुए ॥ २९ ॥ सब योधाओं के देखते २ वे स्त्रियें चारों ओर से खींची गईं, और कई अपनी इच्छा से वनों में भाग गईं ॥३०॥ अर्जुन यादवों के सेवकों के साथ मिल कर गांडीव से छूटे बाणों द्वारा डाकुओं का वध करने लगे ॥ ३१ ॥ किन्तु हे राजन् !

थोड़ी देर में ही उस के वे बाण समाप्त हो गए, जो पहले शत्रुओं का लहू पीने वाले कभी क्षीण न हुआ करते थे॥३२॥ बाणों के न रहने से दुःख शोक से युक्त हुआ अर्जुन धनुष की नोक से डाकुओं को मारने लगा॥ ३३ ॥ अस्त्रों के भूल जाने से और बाणों के न रहने से अर्जुन इस को दैवफल जानते हुए बड़े उदास हुए ॥ ३४ ॥ तब अब कुछ नहीं बनसकता कह कर लौट आए ॥ ३५ ॥ अनन्तर बची हुई यादव स्त्रियों को, जिन के रत्न छीने गए हैं, साथ ले कर कुरुदेश में आए ॥ ३६ ॥ फिर युधिष्ठिर की अनुमति में यादवों के वंशकर्ता कुमारों को वहां२स्थापन किया ॥ ३७ ॥ कृतवर्मा के पुत्र को मार्तिकावत नगर में ॥ ३८ ॥ सात्यकि के प्यारे पुत्र को बाल वृद्धों सहित सरस्वती के तट पर स्थापित किया ॥ ३९ ॥ वज्र (कृष्ण के पोते) को इन्द्रप्रस्थ में राज्य दिया, वज्र ने अक्रूर की स्त्रियों को बार२रोका, तथापि वे तपश्चर्या के लिए वनों को चली गईं ॥४०॥ रुक्मिणी गान्धारी, शैब्या, हैमवती और जाम्बवती ने अग्नि में प्रवेश किया ॥ ४१ ॥ सत्यभामा और कृष्ण की दूसरी प्यारी स्त्रियें तपश्चर्या का निश्चय कर के वन को चली गईं ॥ ४२ ॥ द्वारकावासी जो पुरुष अर्जुन के साथ आए थे, उन का यथायोग्य विभाग कर के शेष सारे लोगों को वज्र के समीप स्थापित किया ॥ ४३ ॥

मौसलपर्व समाप्त हुआ ॥

———o———

महाप्रस्थानिकपर्व ॥

अ० १ (व० १) पाण्डवों का महाप्रस्थान

मूल—श्रुत्वैवं कौरवो राजा वृष्णीनां कदनं महत् । प्रस्थाने मतिमाधाय वाक्यमर्जुन मब्रवीत् ॥ १ ॥ कालः पचति भूतानि सर्वाण्येव महामते । कालपाशमहं मन्ये त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ॥ २ ॥ इत्युक्तः स तु कौन्तेयः कालः कालइति ब्रुवन् । अन्वपद्यत तद्वाक्यं भ्रातुर्ज्येष्ठस्य धीमतः ॥ ३ ॥ अर्जुनस्य मतं ज्ञात्वा भीमसेनो यमौ तथा ॥ ४ ॥ ततो युयुत्सुमानाय्य प्रव्रजन् धर्मकाम्यया । राज्यं परिददौ सर्वं वैश्यापुत्रे युधिष्ठिरः ॥ ५ ॥ अभिषिच्य स्वराज्ये च राजानं च परिक्षितं । दुःखार्तश्चा ब्रवीद्राजा सुभद्रां पाण्डवाग्रजः ॥ ६ ॥ परिक्षिद्धास्तिनपुरे शक्रप्रस्थे च यादवः । वज्रो राजा त्वया रक्ष्यो माचाधर्मे मनः कृथाः ॥ ७ ॥ ततोऽनुमान्य धर्मात्मा पौरजानपदं जनं । गमनाय मतिंचक्रे भ्रातरश्चास्य ते तदा ॥ ८ ॥ उत्सृज्या भरणान्यङ्गाज्जगृहे वल्कलान्युत । भीमार्जुन यमाश्चैव द्रौपदी च यशस्विनी ॥ ९ ॥ विधिवत् कारयित्वेष्टिं नैष्ठिकीं भरतर्षभ । समुत्सृज्याप्सु सर्वेऽग्नीन् प्रतस्थुर्नरपुंगवाः ॥ १० ॥ ततः प्ररुरुदुः सर्वाः स्त्रियो दृष्ट्वा नरोत्तमान् । प्रस्थितान् द्रौपदीषष्ठान् पुरा द्यूतजितान् यथा ॥ ११ ॥ भ्रातरः पञ्च कृष्णा च षष्ठीश्वा चैव सप्तमः । आत्मना सप्तमो राजा निर्ययौ गजसाह्वयात् ॥ १२ ॥ पौरैरनुगतो दूरं सर्वैं रन्तः पुरैस्तथा । न चैन मशकत् कश्चिन्निवर्तस्वेति भाषितुं ॥ १३ ॥ युधिष्ठिरो ययावग्रे भीमस्तु तदनन्तरं । अर्जुनस्तस्य चान्वेव यमौ चापि यथाक्रमं ॥ १४ ॥ पृष्ठतस्तु वरारोहा श्यामा पद्मदलेक्षणा । श्वाचै-

वानु ययावेकः प्रस्थितान् पाण्डवान् वनं ॥ १५ ॥ क्रमेण ते ययुर्वीरा लौहित्यं सलिलार्णवं । ययुश्च पाण्डवा वीरास्ततस्ते दक्षिणामुखाः ॥ १६ ॥ ततस्तेनूत्तरेणैव तीरेण लवणाम्भसः । जग्मुर्भरतशार्दूल दिशं दक्षिण पश्चिमां ॥ १७ ॥ ततः पुनः समावृत्ताः पश्चिमां दिशमेव ते । ददृशुर्द्वारिकां चापि सागरेण परिप्लुतां ॥ १८ ॥ उदीचीं पुनरावृत्य ययुर्भरत सत्तमाः । प्रादक्षिण्यं चिकीर्षन्तः पृथिव्या योगधर्मिणः ॥ १९ ॥

अर्थ—कौरव राजा इस प्रकार यादवों के भारी विनाश को सुन कर प्रस्थान का निश्चय कर के अर्जुन से बोले ॥ १ ॥ हे महामते काल सारे ही प्राणियों को पकाता है, उस कालपाश को मैं अब देख रहा हूं, तुम्हें भी देखना योग्य है ॥ २ ॥ यह सुन अर्जुन ने भी काल काल कहते हुए जेठे भाई के वचन को स्वीकार किया ॥ ३ ॥ अर्जुन को सम्मत जान भीमसेन तथा नकुल और सहदेव ने भी स्वीकार किया ॥ ४ ॥ तब राजा युधिष्ठिर ने वैश्यापुत्र युयुत्सु को बुलवा कर धर्म कामना से जाने का निश्चय बतला कर राज्य उस को सौंपा ॥ ५ ॥ और राज्य में राजा परिक्षित का अभिषेक कर के राजा युधिष्ठिर ने दुःख से पीड़ित हो कर सुभद्रा से कहा ॥ ६ ॥ हस्तिनापुर में कौरवों का राजा परीक्षित, और इन्द्रप्रस्थ में यादवों का राजा वज्र इन दोनों की रक्षा करनी, और कभी कोई अन्याय मन में न आने देना ॥ ७ ॥ तब पुर और देशवासियों की अनुमति लेकर राजा और उस के भाई जाने को तय्यार हुए ॥ ८ ॥ राजा तथा भीम अर्जुन नकुल सहदेव और द्रौपदी ने शरीर से भूषण उतार कर बकले पहने ॥ ९ ॥ यथाविधि सारे समाप्ति का भक्ष

कर के अग्नियों को जलों में फेंक कर चल पड़े ॥ १० ॥ द्रौपदी समेत उन पांचों को उसी तरह प्रस्थित हुए देख कर स्त्रियें रोने लगीं जैसे कि पहले जुए में जीते हुए निकले थे ॥ ११ ॥ पांचों भाई, छठी द्रौपदी और सातवां एक कुत्ता ये सात हस्तिनापुर से निकले ॥ १२ ॥ पुर के और अन्तःपुर के सब लोग दूर तक उन के पीछे गए, परन्तु कोई भी उन्हें ' लौट चलिये ' न कह सका ॥ १३ ॥ आगे युधिष्ठिर चले, पीछे भीम, पीछे अर्जुन, पीछे यथाक्रम नकुल और सहदेव ॥ १४ ॥ पीछे पद्मपत्र तुल्य नेत्रों वाली द्रौपदी, इस प्रकार वन को प्रस्थित हुए पाण्डवों का एकमात्र कुत्ता साथी हुआ ॥ १५ ॥ क्रम से वे वीर लाल सागर में पहुंचे, वहां से वे वीर दक्षिणमुख गए ॥ १६ ॥ तिस पीछे वे सागर के उत्तर तट के मार्ग से दक्षिण पश्चिम दिशा को गए ॥ १७ ॥ पीछे वे पश्चिम दिशा की ओर ही लौटे, और सागर में डूबी हुई द्वारका को देखा ॥ १८ ॥ फिर वे भरतवर पृथिवी की प्रदक्षिणा करना चाहते हुए लौट कर उत्तरादिशा को ही गए ॥ १९ ॥

अ० २ (व० २-३)

मूल—ततस्ते नियतात्मान उदीचीं दिशमास्थिताः । ददृशुर्योग युक्ताश्च हिमवन्तं महागिरिं ॥ १ ॥ तं चाप्यतिक्रमन्तस्ते ददृशुर्वालुकार्णवं । अवैक्षन्त महाशैलं मेरुं शिखरिणां वरं ॥ २ ॥ तेषां तु गच्छतां शीघ्रं सर्वेषां योगधर्मिणां । याज्ञसेनी भ्रष्टयोगा निपपात महीतले ॥ ३ ॥ भी० उ०—नाधर्मश्चरितः कश्चिद्राजपुत्र्या परंतप। कारणं किं नु तद् ब्रूहि यत् कृष्णा पतिताभुवि॥४॥

यु० उ० पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनञ्जये । तस्यैतत् फल-मद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम ॥ ५ ॥ एवमुक्त्वाऽनवेक्ष्यैनां ययौ भरतसत्तमः । समाधाय मनो धीमान् धर्मात्मा पुरुषर्षभः ॥ ६ ॥ सहदेवस्ततो विद्वान् निपपात महीतले । तं चापि पतितं दृष्ट्वा भीमो राजानमब्रवीत् ॥ ७ ॥ योऽयमस्मासु सर्वेषु शुश्रूषुरनहंकृतः । सोऽयं माद्रवतीपुत्रः कस्मान्निपतितो भुवि ॥ ८ ॥ यु० उ० आत्मनः सदृशं प्राज्ञं नैषोऽमन्यत कंचन । तेन दोषेण पतितो विद्वानेष नृपात्मजः ॥ ९ ॥ इत्युक्त्वा तं समुत्सृज्य सहदेवं ययौ तदा । भ्रातृभिः सह कौन्तेयः शुना चैव युधिष्ठिरः॥ १० ॥ कृष्णां निपतितां दृष्ट्वा सहदेवं च पाण्डवं । आर्तो बन्धुप्रियः शूरो नकुलो निपपात ह ॥ ११ ॥ भी० उ० योऽयमक्षत धर्मात्मा भ्राता वचनकारकः । रूपेणाप्रतिमो लोके नकुलः पतितो भुवि ॥१२॥ यु० उ०—रूपेण मत्समो नास्ति कश्चिदित्यस्य दर्शनं । नकुलः पतितस्तस्मादागच्छ त्वं वृकोदर॥ १३ ॥ तांस्तु प्रपतितान् दृष्ट्वा पाण्डवः श्वेत वाहनः । पपात शोक संतप्तस्ततोऽनु परवीरहा॥ १४॥ भी० उ० अनृतं नस्मराम्यस्य स्वैरेष्वपि महात्मनः । अथ कस्य विकारोऽयं येनायं पतितो भुवि ॥ १५ ॥ यु० उ० अवमेने धनुर्ग्राहानेष सर्वांश्च फाल्गुनः । इत्युक्त्वा प्रस्थितो राजा भीमोऽथ निपपात ह ॥ १६ ॥ पतितश्चा ब्रवीद् भीमो धर्मराजं युधिष्ठिरं किं निमित्तं च पतनं ब्रूहि त्वं यदि वेत्थह ॥ १७ ॥ यु० उ० अतिभुक्तं च भवता प्राणेन च विकत्थसे । अनवेक्ष्यपरं पार्थ तेनासि पतितः क्षितौ ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वा तं महाबाहुर्जगामानवलोकयन् । श्वाप्येकोऽनु ययौ यस्ते बहुशः कीर्तितो मया ॥१९॥ ततः संनादयञ्च शक्रो दिवं भूमिं च सर्वशः । रथेनोपययौ पार्थ

मारोहेत्यब्रवीत्तं ॥ २० ॥ यु० उ० भ्रातरः पतिता मेऽत्र गच्छेयुस्ते मया सह। न विना भ्रातृभिः स्वर्गमिच्छे गन्तुं सुरेश्वर॥२१॥ सुकुमारी सुखार्हा च राजपुत्री पुरंदर। साऽस्माभिः सह गच्छेत तद्भवाननु मन्यताम् ॥ २२ ॥ इ० उ० भ्रातॄन् द्रक्ष्यसि स्वर्गे त्वमग्रतस्त्रिदिवं गतान्। कृष्णया सहितान् सर्वान् मा शुचो भरतर्षभ ॥ २३ ॥ निक्षिप्य मानुषं देहं गतास्ते भरतर्षभ। अनेन त्वं शरीरेण स्वर्गं गन्ता न संशयः ॥ २४ ॥यु० उ० अयं श्वा भूतभव्येश भक्तो मां नित्यमेव ह। स गच्छेत मया सार्धं मानृशंस्या हि मे मतिः ॥ २५ ॥ इ० उ० स्वर्गेलोके श्ववतां नास्ति धिष्ण्यमिष्टापूर्तं क्रोधवशा हरन्ति। ततो विचार्य क्रियतां धर्मराज त्यजश्वानं नात्र नृशंसमस्ति ॥ २६ ॥ यु० उ० भक्तत्यागं प्राहुरत्यन्तपापं तुल्यं लोके ब्रह्मवध्याकृतेन। तस्मान्नाहं जातु कथंचनाद्य त्यक्ष्याम्येनं स्वसुखार्थी महेन्द्र ॥ २७ ॥ तद्धर्मराजस्य वचो निशम्य धर्मस्वरूपी भगवानुवाच। युधिष्ठिरं प्रीतियुक्तो नरेन्द्रं श्लक्ष्णैर्वाक्यैः संस्तव संप्रयुक्तैः ॥ २८ ॥ अभिजातोसि राजेन्द्र पितुर्वृत्तेन मेधया। अनुक्रोशेन चानेन सर्वभूतेषु भारत ॥ २९ ॥ अतस्तवाक्षया लोकाः स्वशरीरेण भारत। प्राप्तोसि भरतश्रेष्ठ दिव्यांगति मनुत्तमां ॥ ३० ॥ स तं रथं समास्थाय राजा कुरुकुलोद्वहः। अर्ध्वमाचक्रमे शीघ्रं तेजसावृत्य रोदसी ॥ ३१ ॥

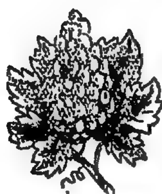
तब उन योगयुक्त संयमियों ने उत्तर की ओर जाके महापर्वत हिमालय को देखा ॥ १ ॥ उस को भी लंघ कर उन्होंने बालुकार्णव को देखा, और फिर महापर्वत मेरु को देखा ॥२॥ वे एकाग्र चित्त हो शीघ्रता से मेरु पर चढ़ रहे थे, कि वहां द्रौ-

पदी योगभ्रष्ट हो कर भूतल पर गिरपड़ी ॥ ३ ॥ भीमसेन बोले-हे परंतप इस राजपुत्री ने कभी कोई अधर्म नहीं किया, तब क्या कारण है, कहिये, जिस से यह भूतल पर गिरी है ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर बोले—अर्जुन पर इस का विशेष कर के पक्षपात था, हे पुरुषवर उस का यह आज फल भोग रही है ॥ ५ ॥ इतना कह उस की ओर फिर के देखे बिना ही धर्मात्मा युधिष्ठिर मन को एकाग्र किये आगे ही चले गए ॥ ६ ॥ तब विद्वान् सहदेव भूतल पर गिर पड़े, उस को भी गिरा देखके भीमसेन राजा से बोले ॥ ७ ॥ जो अहंकार रहित हो कर सदा हम सब की सेवा करता था, वह माद्री का पुत्र क्यों भूमि पर गिरा है॥ ८ ॥युधिष्ठिर बोले—यह राजपुत्र किसी भी पुरुष को अपने समान प्राज्ञ नहीं समझता था, उस दोष से यह इस समय गिरा है ॥ ९ ॥ इतनी बात कह के ही उस को छोड़ कर युधिष्ठिर अपने भाइयों समेत और उस कुत्ते समेत चलने लगे ॥ १० ॥ द्रौपदी और सहदेव को गिरते हुए देख के भ्रातृप्रिय शूर नकुल पीड़ित हो कर गिर पड़े ॥ ११ ॥ भीम बोले—जो कभी धर्म से विचलित नहीं हुए, सदा हमारे आज्ञाकारी रहे, जो रूप में अतुल हैं, वह हमारे भाई नकुल क्यों गिरे ॥ १२ ॥ युधिष्ठिर बोले—इस की ऐसी दृष्टि थी, कि मेरे समान जगत में कोई रूपवान् नहीं है, इस लिए यह नकुल गिरा है, हे भीम तू चला आ ॥ १३ ॥उन को गिरते देख उन के अनन्तर शोक से संतप्त हुए शत्रुहन्ता अर्जुन भी गिर पड़े॥ १४॥भीम बोले-इस महात्मा ने हंसी में भी कभी कोई मिथ्या वचन कहा हो, ऐसा मुझे स्मरण नहीं आता है, तब

यह किस बात का दोष है, जिस से यह भूतल पर गिरा है॥१५॥ युधिष्ठिर बोले—अर्जुन सभी धनुर्धारियों का अपमान करता था, यह कह कर राजा आगे चले. अब भीम गिर पड़े ॥ १६ ॥ गिरा हुआ भीम राजा युधिष्ठिर से बोला, मेरा पतन किस कारण हुआ है, कहिये, यदि आप जानते हैं ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे भीम तुम बहुत खाते थे और दूसरे के बल को कुछ न गिन कर सदा अपने बल की श्लाघा करते थे, इस से तुम भूतल पर गिरे हो ॥ १८ ॥ यह कह कर वह महाबाहु बिन देखे आगे ही चला गया, उस समय वह एकमात्र कुत्ता ही उन का अनुगामी था, जिस का वर्णन कई बार आचुका है ॥ १९ ॥ अनन्तर इन्द्र द्यौ और भूमि को अपने रथ से गुंजाते हुए वहां आए, और युधिष्ठिर को रथ पर चढ़ने के लिए कहा ॥ २० ॥ युधिष्ठिर बोले—मेरे भाई जो यहां गिरे हैं, वे भी मेरे साथ चलें, हे सुरेश्वर ! मैं भाइयों के विना स्वर्ग में जाना नहीं चाहता ॥ २१ ॥ और हे पुरन्दर वह सुखों के योग्य सुकुमारी द्रौपदी भी हमारे संग चले, यह आप स्वीकार करें ॥ २२ ॥ इन्द्र बोले—स्वर्ग में तुम अपने भाइयों को देखोगे, वे तुम से पहले द्रौपदी समेत स्वर्ग में गए हैं, हे भरतवर शोक मत कर ॥ २३ ॥ हे भरत वर. वे मानुष शरीर को छोड़ कर गए हैं, तुम सशरीर स्वर्ग में जाओगे, इस में संशय नहीं ॥ २४ ॥ युधिष्ठिर बोले—हे भूत भव्य के स्वामी यह कुत्ता मेरा चिर भक्त है, यह मेरे साथ चलना चाहिये, मेरा हृदय करुणा वाला है ॥ २५ ॥ इन्द्र बोले—स्वर्गलोक में कुत्ते वालों को स्थान नहीं, क्रोधवश देवगण (कुत्ते वालों के) इष्टपूर्त को निष्फल कर देते हैं, इस लिए हे धर्मराज विचार कर

के काम करो, कुत्ते को त्याग, इस में कोई क्रूरता नहीं है॥२६॥ युधिष्ठिर बोले—भक्त के त्याग को अत्यन्त पाप कहते हैं, यह ब्रह्महत्या के तुल्य है, इस लिए मैं अपने सुख के अर्थ कथंचित भी इस का त्याग नहीं करूंगा ॥ २७ ॥ धर्मराज के इस वचन को सुन कर धर्मस्वरूपी भगवान् प्रसन्न हो कर स्तुतियुक्त मधुर वचनों से बोले ॥ २८ ॥ हे राजेन्द्र तुम पिता की मर्यादा पर चलने से, मेधा से, और सब भूतों पर दया से तुम पुण्यात्मा हो ॥ २९ ॥ इस कारण से हे भारत ! तेरे अक्षय लोक हैं, अपने शरीर से तुम अत्युत्तम दिव्य गति को प्राप्त हुए हो ॥ ३० ॥ कुरुकुल श्रेष्ठ राजा उस रथ पर चढ कर अपने तेज से द्यौ और भूमि को प्रकाशित करते हुए ऊपर चढ़ गए ॥ ३१ ॥

महाप्रस्थानिकपर्व समाप्त हुआ ॥



स्वर्गारोहणपर्व ॥

अ० १ (व० ९) स्वर्ग नरक दर्शन

मूल—स्वर्गं त्रिविष्टपं प्राप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः। दुर्योधनं श्रियाजुष्टं ददर्शासीनमासने ॥ १ ॥ भ्राजमानमिवादित्यं वीरलक्ष्म्याभि संवृतं ॥ २ ॥ ततो युधिष्ठिरो दृष्ट्वा दुर्योधनममर्षितः। सहसा सन्निवृत्तोऽभूच्छ्रियं दृष्ट्वा सुयोधने ॥ ३ ॥ ब्रुवन्तुच्चैर्वचस्तान्वै नाहं दुर्योधनेन वै। सहितः कामये लोकान् लुब्धेनादीर्घदर्शिना ॥ ४ ॥ अस्ति देवा न मे कामः सुयोधन मुदीक्षितुं। तत्राहं गन्तुमिच्छामि यत्र ते भ्रातरो मम ॥ ५ ॥ नैवमित्य ब्रवीत्तं तु नारदः प्रहसन्निव। स्वर्गोऽयं नेह वैराणि भवन्ति मनुजाधिप ॥ ६ ॥ यु० उ० राजानो राजपुत्राश्च ये मदर्थे हता रणे। क्व ते महारथाः सर्वे शार्दूलसम विक्रमाः ॥ ७ ॥ देवा ऊचुः—यदि वै तत्र ते श्रद्धा गम्यतां तत्र माचिरं। इत्युक्त्वा तं ततो देवा देवदूत मुपादिशन् ॥ ८ ॥ अग्रतो देवदूतश्च ययौ राजा च पृष्ठतः। पन्थानमशुभं दुर्गं सेवितं पाप कर्मभिः ॥ ९ ॥ तमसा संवृतं घोरं केशशैवल शाड्वलं। युक्तं पाप कृतां गन्धैर्मांस शोणित कर्दमं ॥ १० ॥ सततकुणप दुर्गन्धमशिवं लोमहर्षणं। जगाम राजा धर्मात्मा मध्ये बहु विचिन्तयन् ॥ ११ ॥ ददर्शोष्णोदकैः पूर्णां नदीं चापि सुदुर्गमां। असिपत्रवनं चैव निशितक्षुर संवृतं ॥ १२ ॥ युधिष्ठिरस्तु निर्विण्णस्तेन गन्धेन मूर्छितः। निवर्तने धृतमनाः पर्यावर्तत भारत ॥ १३ ॥ स सन्निवृत्तो धर्मात्मा दुःखशोकसमाहतः। शुश्राव तत्र वदतां दीना वाचः समन्ततः ॥ १४ ॥ भो भो धर्मज राजर्षे पुण्याभिजन पाण्डव। अनु-

ग्रहार्यमस्माकं तिष्ठ तावन्मुहूर्तकं ॥ १५ ॥ आयाति त्वयि दुर्धर्षे वाति पुण्यः समीरणः । तव गन्धानुगस्तात येनास्मान् सुखमागमत् ॥ १६ ॥

अर्थ—स्वर्ग को प्राप्त हो कर धर्मराज युधिष्ठिर ने श्रीसम्पन्न दुर्योधन को चमकते हुए सूर्य की भांति आसन पर बैठे हुए देखा ॥ १-२ ॥ तब युधिष्ठिर दुर्योधन को देख कर और उस की श्री को देख कर क्रोधवश हो कर सहसा लौट पड़े ॥ ३ ॥ देवताओं से यह वचन कहते हुए कि मैं इस क्रोधी अदीर्घदर्शी दुर्योधन के साथ नहीं रहना चाहता ॥ ४ ॥ हे देवताओ ! मैं सुयोधन को देखना नहीं चाहता, मैं वहां जाना चाहता हूं, जहां मेरे भाई हैं ॥ ५ ॥ उस को नारद हंस कर कहने लगे, हे नरनाथ ! यह स्वर्ग है, यहां वैर नहीं होते हैं ॥ ६ ॥ युधिष्ठिर बोले—राजा और राजपुत्र जो मेरे अर्थ मारे गए हैं, सिंह तुल्य पराक्रमी वे सब महारथ कहां हैं ॥ ७ ॥ देवता बोले-यदि आप की श्रद्धा वहां जाने की है, तो शीघ्र वहां चलिये, यह कह कर देवताओं ने देवदूत को (ले जाने की) आज्ञा दी ॥ ८ ॥ देवदूत आगे और राजा पीछे २ पापकर्म वाले पुरुषों से सेवित उस अशुभ पथ में ही शीघ्र ही जाने लगे ॥ ९ ॥ वह मार्ग अन्धकार से ढका हुआ, भयंकर, केश, सिवाल और तृणों से जटिल, पापियों की गन्ध से युक्त, मांस और रुधिर के कीचड़ से युक्त ॥ १० ॥ मृत शरीरों के दुर्गन्ध से युक्त, अमंगल, रोंगटे खड़ा करने वाले उस मार्ग के बीच राजा युधिष्ठिर बहुविध चिन्ता में पड़े हुए गए ॥ ११ ॥ मार्ग के बीच उष्णजल से भरी हुई बड़ी दुर्गम नदी, और तीखे छुरों से पूर्ण असिपत्र वन देखा ॥ १२ ॥

धर्मात्मा युधिष्ठिर ने उदास तथा गन्ध से मूर्छित हो कर लौटने का निश्चय कर के वहां से लौट पड़े ॥ १३ ॥ दुःख शोक युक्त वह धर्मात्मा जब लौटे, तो उस ने चारों ओर से बोलते हुओं की दीन वाणियां सुनीं ॥ १४ ॥ हे हे पुण्यात्मा राजर्षि पाण्डव हम पर अनुग्रह कर के थोड़ी देर यहां ठहरिये ॥ १५ ॥ आप के आने से तुम्हारे पुण्यगन्ध से युक्त पवित्र वायु बहने लगा है, जिस से हमें सुख मिल रहा है ॥ १६ ॥

मूल—तेषां तु वचनं श्रुत्वा दयावान् दीनभाषिणां । अहो कृच्छ्रमिति प्राह तस्थौ स च युधिष्ठिरः ॥ १७ ॥ उवाच के भवन्तो वै किमर्थं चेह तिष्ठत । इत्युक्तास्ते ततः सर्वे समन्तादभ्यभाषिरे ॥ १८ ॥ कर्णोऽहं भीमसेनोऽहमर्जुनोऽहमिति प्रभो । नकुलः सहदेवोऽहं धृष्टद्युम्नोऽहमित्युत ॥ १९ ॥ द्रौपदी द्रौपदेयाश्च इत्येवं ते विचुक्रुशुः ॥ २० ॥ ततो विममृषे राजा किंत्विदं दैवकारितं । किं तु तत्कलुषं कर्म कृतमेतन्महात्माभिः ॥ २१ ॥ य इमे पापगन्धेऽस्मिन् देशे सन्ति सुदारुणे । नाहं जानामि सर्वेषां दुष्कृतं पुण्यकर्मणां ॥ २२ ॥ किं कृत्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो राजा सुयोधनः । तथा श्रिया युतः पापैः सह सर्वैः पदानुगैः ॥ २३ ॥ किं नु सुप्तोऽस्मि जागर्मि चेतयामि न चेतये । अहो चित्तविकारोऽयं स्याद्वा मे चित्तविभ्रमः ॥ २४ ॥ एवं बहुविधं राजा विममर्श युधिष्ठिरः । दुःखशोकसमाविष्टश्चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियः ॥२५॥ क्रोधमाहारयच्चैव तीव्रं धर्मसुतो नृपः । देवांश्च गर्हयामास धर्मं चैव युधिष्ठिरः ॥ २६ ॥ स तीव्रशोकसंतप्तो देवदूतमुवाच ह । नाहं तत्र यास्यामि स्थितोऽस्मीति निवेद्यतां ॥ २७ ॥ दूतो अ-

गाम यत्रास्ते देवराजः शतक्रतुः । निवेदयामास च तद्धर्मराज-
चिकीर्षितं ॥ २८ ॥

अर्थ—दयावान् राजा युधिष्ठिर उन के दीन वचन को सुन कर 'अहो कष्ट' कह कर वहीं खड़े होगए ॥ १७ ॥ और बोले-आप कौन हैं और किस लिए यहां ठहरे हैं, यह सुन कर वे सारे चारों ओर से बोले ॥ १८ ॥ हे प्रभो ! मैं कर्ण हूं, मैं भीमसेन हूं, मैं अर्जुन हूं, मैं नकुल हूं, मैं सहदेव हूं, मैं धृष्टद्युम्न हूं ॥ १९ ॥ मैं द्रौपदी हूं, हम द्रौपदी के पुत्र हैं, इस प्रकार वे पुकारते भए ॥ २० ॥ तब राजा सोच में पड़ गए, कि क्या यह दैव का काम है, क्या इन महात्माओं ने कोई पाप कर्म किया है ॥ २१ ॥ जो कि ये इस दुर्गन्ध वाले सुदारुण स्थान में पड़े हैं, इन सारे पुण्य कर्मियों का मैं कोई पाप नहीं जानता हूं ॥ २२ ॥ और यह क्या काम है, जिस से धृतराष्ट्र का पुत्र राजा सुयोधन अपने सारे नीच साथियों समेत वैसी श्री से युक्त है ॥ २३ ॥ क्या मैं सोया हुआ हूं, या जागता हूं, होश में हूं, वा नहीं हूं, अहो यह मेरे चित्त की गड़बड़ है या चित्त का घूमना है ॥ २४ ॥ इस प्रकार राजा युधिष्ठिर बहुत सोच में पड़ा, दुःख शोक से युक्त हुआ और चिन्ता से व्याकुल इन्द्रियों वाला धर्मपुत्र युधिष्ठिर तीव्र क्रोध में आ कर देवताओं की और धर्म की निन्दा करने लगे ॥ २५-२६ ॥ तीव्र शोक से तप्त हो कर राजा देवदूत से बोले, मैं वहां नहीं जाऊंगा, मैं यह ठहरा हूं, यह जा कर निवेदन कर दो ॥ २७ ॥ तब दूत वहां गया, जहां देवराज इन्द्र थे, और जा कर धर्मराज का अभिप्राय कह सुनाया ॥ २८ ॥

अ० २ (व० ३) सब की उत्तम गति

मूल—स्थिते मुहूर्ते पार्थे तु धर्मराजे युधिष्ठिरे । आजग्मुस्तत्र कौरव्यदेवाः शक्रपुरोगमाः ॥ १ ॥ तेषु भास्वरदेहेषु पुण्याभिजनकर्मसु । समागतेषु देवेषु व्यगमत्तत्तमो नृप ॥ २ ॥ नादृश्यन्त च तास्तत्र यातनाः पापकर्मणां । नदी वैतरणी चैव कूटशाल्मलिना सह ॥ ३ ॥ ततः शक्रः सुरपतिः श्रिया परमया युतः । युधिष्ठिरमुवाचेदं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ ४ ॥ एह्येहि पुरुषव्याघ्र कृतमेतावता विभो । सिद्धिः प्राप्ता महाबाहो लोकाश्चाप्यक्षयास्तव ॥५॥ न च मन्युस्त्वया कार्यः शृणु चेदं च वचो मम । अवश्यं नरकस्तात द्रष्टव्यः सर्वराजभिः ॥ ६ ॥शुभानामशुभानां च द्वौराशी पुरुषर्षभ । यः पूर्वं सुकृतं भुङ्क्ते पश्चान्नरकमेति सः ॥ ७ ॥ पूर्वं नरकभाग्यस्तु पश्चात्स्वर्गमुपैति सः । भूयिष्ठं पापकर्मा यः स पूर्वं स्वर्गमश्नुते ॥ ८ ॥ व्याजेन हि त्वया द्रोण उपचीर्णः सुतं प्रति । व्याजेनैव ततो राजन् दर्शितो नरकस्तव॥९॥ यथैव त्वं तथा भीमस्तथा पार्थो यमौ तथा । द्रौपदी च तथा कृष्णा व्याजेन नरकं गताः ॥ १० ॥ आगच्छ नरशार्दूल मुक्तास्ते चैव कल्मषात् ॥ ११ ॥ स्वपक्ष्याश्चैव ये तुभ्यं पार्थिवा निहता रणे । सर्वे स्वर्गमनुप्राप्तास्तान् पश्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥ कृच्छ्रं पूर्वं चानुभूय इतः प्रभृति कौरव । विहरस्व मया सार्धं गतशोको निरामयः ॥ १३ ॥ राजसूयजितांल्लोकानश्वमेधाभि निर्मितान् । प्राप्नुहि त्वं महाबाहो तपसश्च महाफलं ॥ १४ ॥ उपर्युपरि राज्ञां हि तव लोका युधिष्ठिर । हरिश्चन्द्र समाः पार्थ येषु त्वं विहरिष्यसि ॥ १५ ॥ एषा देवनदी पुण्या पार्थ त्रैलोक्यपा-

वनी । आकाशगंगा राजेन्द्र तत्राप्लुत्य गमिष्यसि ॥ १६ ॥ अत्र
स्नातस्य भावस्ते मानुषो विगमिष्यति । गतशोको निरायासो
मुक्तवैरो भविष्यसि ॥ १७ ॥ अवगाह्य ततो राजा तनुं तत्याज
मानुषीं । ततो ययौ वृतो देवैः कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ १८ ॥
धर्मेण सहितो धीमान् स्तूयमानो महर्षिभिः । यत्र ते पुरुषव्याघ्रा
शूरा विगतमन्यवः ॥ १९ ॥ पाण्डवा धार्तराष्ट्राश्च स्वानि स्था-
नानि भेजिरे ॥ २० ॥

अर्थ—धर्मराज युधिष्ठिर के थोड़ी देर ठहरने पर इन्द्र को आगे कर के देवता वहां आगए ॥ १ ॥ हे राजन् उन प्रकाश-मान देह वाले पवित्र जन्म कर्म वाले देवताओं के वहां आने पर वह अन्धकार मिट गया ॥ २ ॥ न वहां उन पापकर्मियों की वैसी यातनाएं, न वैतरणी नदी, न कूटशाल्मलि दीख पड़े ॥ ३ ॥ अनन्तर परम श्री सम्पन्न देवराज इन्द्र सान्त्वना पूर्वक युधि-ष्ठिर से यह वचन बोले ॥ ४ ॥ हे पुरुषवर आओ आओ, हे विभो इतना ही बस है, हे महाबाहो तुमने सिद्धि पा ली है, तेरे अक्षय लोक हैं ॥ ५ ॥ तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये, मेरा यह वचन सुनो, हे तात ! सभी राजाओं को नरक देखना होता है ॥ ६ ॥ हे पुरुष वर शुभ और अशुभ की दो राशियें होती हैं, उन में से जो पहले पुण्य को भोग लेता है, वह पीछे नरक को जाता है ॥ ७ ॥ और जो पहले नरक भागी बनता है, वह पीछे स्वर्ग को प्राप्त होता है, वह पीछे नरक को प्राप्त होता है, जो बहुत से पाप कर्मों वाला होता है, वह पहले स्वर्ग भोग लेता है ॥ ८ ॥ तुमने बहाने से द्रोण को पुत्र के सम्बन्ध में धोखा दिया था, सो बहाने से ही हे राजन् तुझे नरक दिखलाया गया है ॥ ९ ॥

तुम्हारी भांति ही भीम अर्जुन नकुल सहदेव और द्रौपदी भी बनावटी नरक में पड़ी ॥ १० ॥ आओ हे नरशार्दूल, वे भी अब पाप से छूट गए हैं ॥ ११ ॥ हे राजन् ! जो तुम्हारे पक्ष के राजा रण में मरे थे, वे सब स्वर्ग में चले गए, उन को यहां चल कर देखो ॥ १२ ॥ हे कौरव पहले कष्ट भोग कर के अब शोक और दुःख से रहित हो कर मेरे संग विहार करो ॥ १३ ॥ हे महाबाहो! राजसूय और अश्वमेध से जीते लोकों को और तप के फल को प्राप्त हो ॥ १४ ॥ हे युधिष्ठिर ! तुम्हारे लोक हरिश्चन्द्र के समान अन्य राजाओं के लोकों के ऊपर २ हैं, जिन में तुम विहार करोगे॥ १५ ॥ हे पार्थ यह त्रैलोक्य पावनी पवित्र नदी आकाश गंगा है, इस में स्नान कर के चलो ॥ १६ ॥ यहां स्नान करने से तुम्हारा मानुषभाव छूट जाएगा, तुम शोक कष्ट से रहित और वैर रहित होगे ॥ १७ ॥ तब राजा युधिष्ठिर स्नान कर के मानुष शरीर का त्याग कर देवताओं से घिरे हुए, महर्षियों से स्तुति किये जाते हुए धर्म सहित वहां गए, जहां वे पुरुषवर शूर वीर वैर रहित हो कर पहुंचे हुए थे, पाण्डव और धार्तराष्ट्र सब अपने २ स्थानों में स्थित हुए ॥ १८–२० ॥

अ० ३ (व० ५)

मूल—वै० उ० एतत्ते सर्वमाख्यातं विस्तरेण महाद्युते । कुरूणां चरितं कृत्स्नं पाण्डवानां च भारत ॥ १ ॥ सौतिरुवाच—एतच्छ्रुत्वा द्विजश्रेष्ठः स राजा जनमेजयः । विस्मितोऽभवदत्यर्थं यज्ञकर्मान्तरेष्वथ ॥ २ ॥ ततः समापयामासुः कर्मतत्तस्य याजकाः । आस्तिकश्चाभवत् प्रीतः परिमोक्ष्य भुजंगमान् ॥ ३ ॥ ततो द्विजातीन् सर्वांस्तान् दक्षिणाभिरतोषयत् । पूजिताश्चापि ते

राज्ञा ततो जग्मुर्यथागतं ॥ ४ ॥ विसर्जयित्वा विप्रांस्तान् राजा-
पि जनमेजयः । इष्टस्तक्षशिलायाः स पुनरायाद् गजाह्वयं ॥ ५ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं वैशम्पायन कीर्तितं । व्यासाज्ञया समाज्ञातं
सर्पसत्रे नृपस्य ह ॥ ६ ॥ धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरत-
र्षभ । यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न कुत्रचित् ॥ ७ ॥ जयो-
नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो मोक्षमिच्छता । ब्राह्मणेन च राज्ञा च
गर्भिण्या चैव योषिता ॥ ८ ॥ इतिहासमिमं पुण्यं महार्थं वेदसं-
मितं । व्यासोक्तं श्रूयते येन कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः ॥ ९ ॥ स नरः
सर्वकामांश्च कीर्तिं प्राप्येह शौनक । गच्छेत् परमिकां सिद्धिमत्र
मे नास्ति संशयः ॥ १० ॥ माता पितृ सहस्राणि पुत्रदार शतानि
च । संसारेष्वनु भूतानि यास्यन्ति चापरे ॥ ११ ॥ हर्षस्थान
सहस्राणि भयस्थान शतानि च । दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न
पण्डितं ॥ १२ ॥ ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ १३ ॥ न जातु कामा-
न्नभयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः । नित्यो धर्मः सुख
दुःखे त्वनित्ये जीवोनित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥ १४ ॥ इमां भारत
सावित्रीं प्रातरुत्थाय यः पठेत् । स भारतफलं प्राप्य परं ब्रह्मा-
धिगच्छति ॥ १५ ॥

अर्थ—वैशम्पायन (जनमेजय से) बोले—हे महाद्युते हे भारत यह मैंने तुम्हारे समीप कौरवों, और पाण्डवों का चरित्र विस्तार पूर्वक वर्णन कर दिया है । सौति बोले—हे द्विजवरो ! राजा जनमेजय यज्ञ कर्म के बीच २ में इसे सुन कर अत्यन्त वि-स्मित हुए ॥ २ ॥ अनन्तर यज्ञ कराने वालों ने उस के कर्म को समाप्त किया, और आस्तीक मुनि भी सर्पों को छुड़ा कर अत्य-

न्त प्रसन्न हुए ॥३॥ अन्त में राजा ने उन सारे ऋत्विजों को दक्षिणाएं दे के परितुष्ट किया, वे राजा से पूजित हो कर निज २ स्थान पर गए ॥ ४ ॥ महाराज जनमेजय भी ब्राह्मणों को विदा कर के प्रसन्न हुए तक्षशिला से फिर हस्तिनापुर में आए ॥ ५ ॥ (हे शौनक) राजा जनमेजय के सर्पसत्र में व्यास की आज्ञा से जो कुछ वैशम्पायन ने वर्णन किया, वह सब तुम्हारे निकट वर्णन कर दिया है ॥ ६ ॥ धर्म अर्थ काम और मोक्ष के विषय में जो यहां है, वही अन्यत्र है, जो यहां नहीं है, वह कहीं भी नहीं है ॥ ७ ॥ यह जय नाम इतिहास मोक्ष चाहने वाले ब्राह्मण को (विजय चाहने वाले) राजा को और) शूरवीर पुत्र चाहने वाली) गर्भिणी को अवश्य सुनना चाहिये ॥ ८ ॥ हे शौनक जो पुरुष ब्राह्मण को आगे कर के व्यासोक्त इस वेद तुल्य गम्भीर आशय वाले पवित्र इतिहास को सुनता है ॥ ९ ॥ वह पुरुष सारी कामनाओं को और यश को प्राप्त हो कर परम सिद्धि को प्राप्त होता है, इस में मुझे संदेह नहीं है ॥ १० ॥ इस संसार में सहस्रों माता पिता पुत्र और कलत्र अनुभव कर चुके हैं, हैं भी और आगे आएंगे भी ॥ ११ ॥ सहस्रों हर्ष के स्थान और सैंकड़ों भय के स्थान दिन २ में मूढ में आवेश करते हैं, ज्ञानी में नहीं॥१२॥मैं दोनों भुजाएं ऊंची कर के पुकार२ कर रहा हूं, मुझे कोई सुनता नहीं है,प्यारो धर्म से ऐश्वर्य और भोग मिलता है, उस धर्म का क्यों सेवन नहीं करते हो ॥१३॥ मनुष्य को चाहिये,कि काम, भय वा लालच के कारण, हां जीवन के भी कारण धर्म को कभी न छोड़े, धर्म नित्य है, सुख और दुःख अनित्य हैं,जीव नित्य है,किन्तु जीवन का हेतु अनित्य है ॥१४॥इस भारतसावित्री को जो प्रातःकाल उठ कर पढ़े, वह भारत के फल को पाकर परब्रह्म को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ — श्रीमन्महाभारतं सम्पूर्णम्

७००) रु० इनाम.

श्रीवाल्मीकि रामायण की टीका पर।

——:०:——

(क) पं० राजाराम जी प्रोफैसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर ने जो वाल्मीकि रामायण का हिन्दी में उल्था किया है, वह ऐसा अद्वितीय और प्रामाणिक उल्था हुआ है, कि उस पर प्रसन्न होकर पञ्जाब यूनीवर्सिटी ने ५००) रु० और पञ्जाब गवर्नमिन्ट ने १००) रु० पण्डित जी को इनाम दिया है (१) इसमें मूल संस्कृत भी साथ है, (२) हिन्दी टीका बड़ी ही सरल है, जिसको बच्चे भी चाव से पढ़ते हैं,(३) कण्ठ करने योग्य उत्तम श्लोकों पर निशान दिये हैं॥

यह जीवन को सुधारकर नया जीवन बना देने वाली पुस्तक हरएक घर में अवश्य होने योग्य है। ऐसी उत्तम और इतनी बड़ी पुस्तक का मूल्य ५। सुनहरी अक्षरों की जिल्द वाली ५।॥)

पण्डित जी संस्कृत के माने हुए विद्वान् हैं, उनकी और भी सभी पुस्तक बड़ी योग्यता की हैं,और बड़ी भी सरल हैं,जैसाकि—

(ख) श्री मद्भगवद्गीता—इस पर भी पण्डित जी को गवर्नमिन्ट से १०० इनाम मिला है। मूल श्लोक के नीचे पद का अर्थ, फिर अन्वयार्थ, फिर भाष्य है। मूल्य २)

सफलजीवन ॥)

मनुस्मृति—हिन्दी भाष्य—पुराने सात भाष्यों के,अर्थ भेद भी और दूसरी स्मृतियों के हवाले भी साथ हैं। इस पर भी १००) इनाम

मूल्य ३)

श्रीमान् पं० राजारामजी कृत पुस्तकें ।

❀ ग्यारह उपनिषद्—भाषा भाष्य समेत ❀

१-ईश .... =)
२-केन .... =)
३-कठ .... |-)
४-प्रश्न .... |)
५-मुण्डक और माण्डूक्य |-)
६-तैत्तिरीय .... |=)
७-ऐतरेय .... =)
८-छान्दोग्य .... २)
९-बृहदारण्यक ....२|||=)
१०-श्वेताश्वेतर .... |||
११-उपनिषदों की शिक्षा-
पहला भाग ||=)
दूसरा भाग ||)
तीसरा भाग ||
चौथा भाग ||=)
१३-मनुस्मृति ३)
१४-वेदान्तदर्शन दोजिल्दोंमें ३|||)
१५-श्रीमद्भगवद्गीता २)
१६-गीता हमें क्या सिखलाती है |)
१७-महाभारत १०)
१८-सांख्यशास्त्र ||=)
१९-आर्यपञ्चमहायज्ञ पद्धति |,||
२०-नवदर्शन संग्रह १)
२१-योगदर्शन १)
२२-पारस्कर गृह्यसूत्र १||)
२३-वेदोपदेश-पहला भाग |||)
२४- ,, दूसरा भाग |||
२५-द्वादश सप्तक |-
२६-श्रीशङ्कराचार्य का जीवन-चरित्र ||)
२७-प्रार्थना पुस्तक -)
२८-ओंकार की उपासना और माहात्म्य -)
२९-वेद और रामायण के उपदेशरत्न -)
३०-वेद और महाभारत के उपदेश रत्न -)
३१-वेद, मनुस्मृति और गीता के उपदेशरत्न -)||
३२-निरुक्त भाष्य ४)

इन पुस्तकों के सिवाय सब प्रकार की दूसरी धार्मिक और स्कूली पुस्तकें हमारे यहां से रिआयत से मिल सकती हैं ।

मैनेजर आर्यग्रन्थावलि लाहौर ।